Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुण्डक माण्डूक्य उपनिषद्

सरल सुबोध भाषा भाष्य

गुरुदत्त

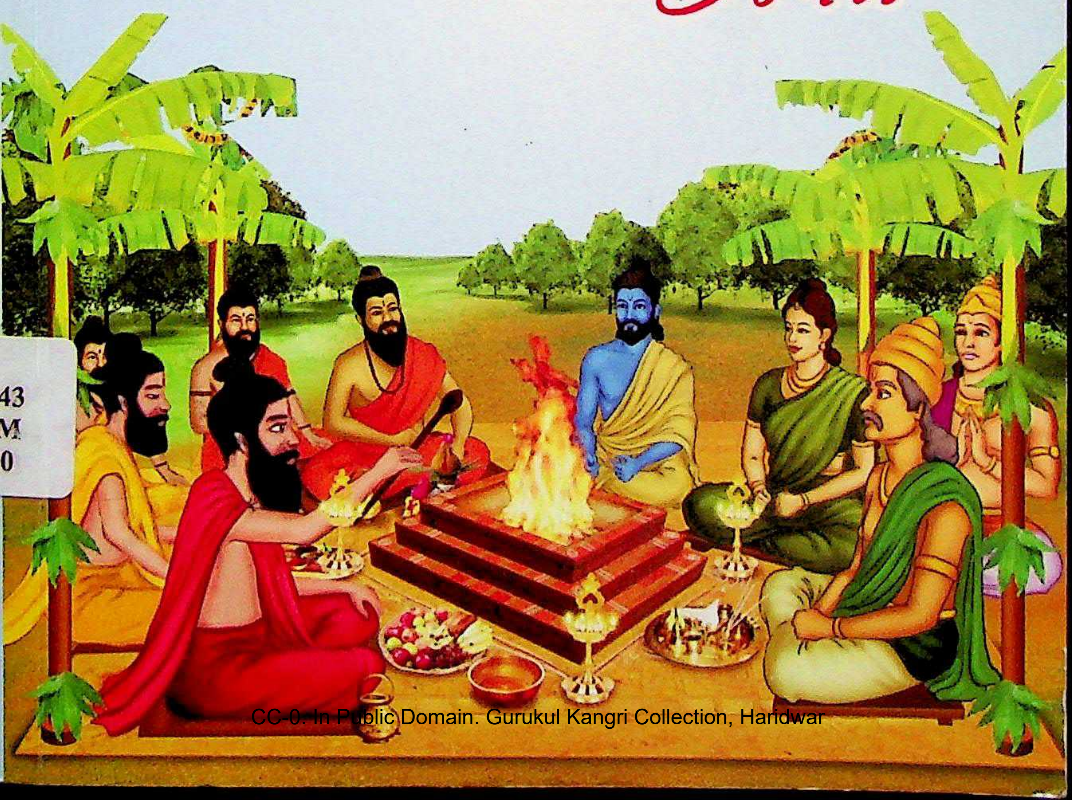

43
M
0

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

167870
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुण्डक—माण्डूक्य उपनिषद्

आर्ष साहित्य
Complete Vedic Books Store
Yog, Vedic, Ayurvedic, Relegious
All Yog & Organic Products
(M) 9541317278, 8869821468
Web.: aarshsahitya.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाश्वत संस्कृति परिषद् का उद्देश्य

विशुद्ध भारतीय तत्त्व-दर्शन पर सम्यक् गवेषणा करना तथा उसका प्रचार करना एवं उसके आधार पर राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित सभी समस्याओं पर सुलझाव प्रस्तुत करना।

परिषद् के प्रकाशन

ब्रह्मसूत्र सरल सुबोध-भाषा भाष्य
सांख्य दर्शन सरल सुबोध-भाषा भाष्य
न्याय दर्शन सरल सुबोध-भाषा भाष्य
श्रीमद्भगवद्गीता एक अध्ययन
इतिहास में भारतीय परम्पराएँ
विज्ञान और विज्ञान
सायंस और वेद
विश्वे देवा
धर्म तथा समाजवाद
प्रजातांत्रिक समाजवाद
न्याय प्रवेशिका
भाव और भावना
भाग्य चक्र
मैं हिन्दू हूँ
यजुर्वेद और गृहस्थ धर्म
राष्ट्र राज्य और संविधान
वर्तमान दुर्व्यवस्था का समाधान हिन्दू राष्ट्र
कठोपनिषद (भाष्य)
नव-दर्शन परिचय
वेद प्रवेशिका

प्रेस में—

श्रीमद्भगवद्गीता सरल सुबोध-भाषा भाष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुण्डक माण्डूक्य उपनिषद

081
167870

गुरुदत्त

Central Library
167870
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

हिन्दी साहित्य सदन
www.hindisahityasadan.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
089.9143
GUR-M

© ईशान दत्त

मूल्य : 100/-

प्रकाशक **हिन्दी साहित्य सदन**
2 बी. डी. चैम्बर्स , 10/54 देश बन्धु गुप्ता रोड,
करोल बाग पुलिस स्टेशन के पास, नई दिल्ली-110005
E-mail: indiabooks@rediffmail.com
hindisahityasadan@gmail.com
Website: **www.hindisahityasadan.com**
टेलिफैक्स 011-23553624, 011-23551344, 09213527666
संस्करण **2016**
मुद्रक संजीव आफसैट प्रिंटर्स

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाश्वत संस्कृति परिषद्

शाश्वत का अर्थ है सदा रहने वाला, नित्य। जो नित्य है वह सबके लिए है।

ज्ञान का मूल स्रोत परमात्मा है और परमात्मा का ज्ञान वेद ज्ञान है। यह ज्ञान प्राणीमात्र के लिये है।

जैसे एक वृक्ष, जिसका सम्बन्ध मूल से कट गया हो, शीघ्र ही सूखने तथा सड़ने लगता है, इसी प्रकार मानव समाज भी, मूल ज्ञान से विच्छिन्न हो सूख तथा सड़ रहा है। मानव-समाज मानवता-विहीन हो रहा है।

इस मानव समाज को पुनः ज्ञान के उस मूल स्रोत—वेद से जोड़ने का एक प्रयास ही यह शाश्वत संस्कृति परिषद् है।

वेद ज्ञान को प्राप्त करने तथा सब जनों को कराने का यह एक प्रयास विज्ञ लेखक ने किया है। इस रचना के प्रकाशनाधिकार परिषद् को सौंपने के लिए हम श्री गुरुदत्त जी के अत्यन्त आभारी हैं।

अशोक कौशिक
मन्त्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय क्रम

१.	भूमिका	७
२.	उपोद्घात	१३
३.	शान्ति पाठ	१५
४.	मुण्डक उपनिषद्	१७—७८
	प्रथम मुण्डक—प्रथम खण्ड	१७
	प्रथम मुण्डक—द्वितीय खण्ड	२८
	द्वितीय मुण्डक—प्रथम खण्ड	४१
	द्वितीय मुण्डक—द्वितीय खण्ड	५२
	तृतीय मुण्डक—प्रथम खण्ड	६०
	तृतीय मुण्डक—द्वितीय खण्ड	६६
५.	मुण्डक उपनिषद् का सारांश	७६
६.	माण्डूक्य उपनिषद्	८६—१०३
७.	माण्डूक्य उपनिषद् का सारांश	१०५
८	अनुक्रमणिका	१०६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका

मैं वेदों (ऋक्, यजुः, साम और अथर्व) को स्वतः प्रमाण मानता हूँ। वेदों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ परतः प्रमाण हैं। ऐसा महर्षि स्वामी दयानन्द जी का कथन भी है।

इस पर भी मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि कालेज की शिक्षा समाप्त करने के समय मैं वेद को स्वतः प्रमाण नहीं मानता था। उस समय मैं नास्तिक अर्थात् अनीश्वरवादी हो रहा था। हाँ, एक बात थी। वह अपने डी० ए० वी० कालेज के एक प्रोफेसर के कथनानुसार थी। वह यह कि मनुष्य में उन्नति, अभिप्राय यह कि ज्ञान प्राप्ति का एक गुर है। वह अपने से सदा यह प्रश्न पूछता रहता है 'क्या और क्यों ?' प्रोफेसर साहब का कहना था कि जो मनुष्य अपने चारों ओर होने वाली घटनाओं में कारण और परिणाम जानने का यत्न करता रहता है, वह सत्य की ओर चल रहा होता है।

यह आवश्यक नहीं कि प्रश्न पूछते ही वह ज्ञानवान् हो जायेगा, अभिप्राय यह कि सत्य को पा जायेगा। वह अंतिम सत्य तक कब पहुँचता है यह एक पृथक् प्रश्न है परन्तु जब तक ये दो प्रश्न, क्या और क्यों, उसके मन में रहेंगे, वह सच्चाई की ओर चल रहा ही समझना चाहिये।

इस खोज को अनन्त बना लेने से मैं अनन्त की खोज पर चल पड़ा और समय पर अनीश्वरवादी से ईश्वरवादी हो गया। उस समय परमात्मा और जीव में जो अन्तर समझ आया वह यह है कि मनुष्य अल्पज्ञ है और परमात्मा सर्वज्ञ ही होना चाहिये। इस बात के समझ आ जाने पर ही वेद को स्वतः प्रमाण और मनुष्य-कृत ग्रन्थों को परतः प्रमाण मानने लगा।

यह स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाण की बात तो आर्य समाज के सम्पर्क में होने से ज्ञात थी, परन्तु जब ईश्वर को ही मानना छोड़ बैठा था तो वेदों के ईश्वर-कृत होने को कैसे मान सकता था ? यह तो आस्तिक होने के उपरान्त ही समझ आया था कि वेद ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थ हैं। यह समझ परीक्षा और यत्न का ही परिणाम है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं अब तक वेद के सैकड़ों मंत्रों को पढ़ उनके अर्थ समझ और ज्ञान-विज्ञान की कसौटी पर उनकी परीक्षा का चुका हूँ। इस कारण ही अब कहता हूँ कि वेद किसी अति ज्ञानवान (सर्वज्ञ) द्वारा कहे गये हैं।

अब भी जब वेदाध्ययन करता हूँ तो वेदार्थों की परीक्षा करता रहता हूँ। अभी तक उनमें कुछ भी ऐसा पता नहीं चला जिससे मैं यह कह सकूँ कि वेद तर्क और सांसारिक वस्तुस्थिति के विपरीत हैं।

यह सम्भावना अभी भी मन में बनी रहती है कि कदाचित् मेरी धारणा में दोष हो और कभी किसी समय पर, ज्ञान में अधिक वृद्धि होने पर, वेद-कथन में कुछ अयुक्तिसंगत अथवा वस्तुस्थिति के विपरीत दिखाई देने लगे. तब मैं वेद को भी स्वतः प्रमाण मानना छोड़ सकता हूँ।

परन्तु यह बात मैं उपनिषदों के विषय में नहीं मानता। मैं जानता हूँ कि उपनिषद् मनुष्यकृत हैं। अतः वे स्वतः प्रमाण नहीं हो सकते। उनको प्रमाण मानने के लिए उनकी प्रत्येक बात की भी वैसे ही परीक्षा करनी होगी जैसे किसी भी मनुष्य की कही बात की परीक्षा की जाती है।

परन्तु मैंने कहा है कि वेद की प्रत्येक बात को भी तो मैं कसौटी पर जाँच करता रहता हूँ। कसौटी है तर्क और वस्तुस्थिति की। इस पर भी वेदों और मनुष्यकृत ग्रन्थों में अन्तर भी है। मेरी परीक्षा का परिणाम अब तक तो यह है कि वेद वचनों में अभी तक दोष न मिलने से वे स्वतः प्रमाण बन रहे हैं और उपनिषदादि ग्रन्थों में अनेक ऐसे उदाहरण मिल रहे हैं जो न केवल तर्क और वस्तुस्थिति के विपरीत हैं वरन् भाव व्यक्त करने में भी अनेकों स्थानों पर अस्पष्ट हैं। अतः इन ग्रन्थों के अध्ययन से उतना आश्वस्त नहीं हुआ जा सकता जितना वेदों के अध्ययन से है। वेदों का वचन न केवल युक्तियुक्त है, वरन्वर्तमान विज्ञान, जिसने अभूतपूर्व उन्नति कर ली है, का भी पथ प्रदर्शन करता दिखाई देता है। वेद के विषय में तो मैं अपने विचार, प्रमाण और युक्ति सहित अपनी आगामी पुस्तक 'वेदों में देवता' की भूमिका में कहने का यत्न करूँगा। वर्तमान पुस्तक में तो दो लघु उपनिषदों का भाष्य लिख रहा हूँ। यहाँ मैं माण्डूक्योपनिषद के विषय में अपने विचार लिख देने उचित समझता हूँ।

मैंने माण्डूक्योपनिषद् का भाष्य इसलिए लिखा है क्योंकि अपने को वेदान्ती कहने वाले विद्वान् पुरुष इस उपनिषद् को अपने विचारों का स्रोत मानते हैं। यह कहा जाता है कि स्वामी शंकराचार्य के अद्वैतवाद पर यह प्राचीनतम ग्रन्थ है और इसी उपनिषद् में ऐसी असंगति दिखाई दी है कि इसको स्वतः प्रमाण कहा ही नहीं जा सकता।

एक मोटी-सी बात है। वह यह कि दृष्ट प्रपंच की चार अवस्थायें हैं और फिर उसको ईश्वर परमात्मा माना है। अर्थात् परमात्मा परिणामी हो गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसमें परिवर्तन हो रहे दिखा दिये हैं। परिवर्तन उस वस्तु में होते हैं जिसमें विकार उत्पन्न होते हैं। जिस वस्तु में विकार उत्पन्न होते हैं वह न तो सर्वज्ञ हो सकती है न ही अनादि। उसकी विकारयुक्त अवस्था स्थाई नहीं हो सकती और प्रश्न है कि वह विकार उसमें कैसे आया ? तब मानना पड़ेगा कि उसमें विकार लाने वाला कोई उससे बाहर विद्यमान है। अपने आप अकारण किसी में विकार उत्पन्न नहीं होता।

अतएव यह मानना पड़ेगा कि वह, जो माण्डूक्योपनिषद् में चार अवस्थाओं वाला कहा गया है परमात्मा नहीं है। परमात्मा अपरिणामी है। यदि परमात्मा को परिणामी मानेंगे तो इसमें विकार उत्पन्न करने वाला भी कोई मानना पड़ेगा। तब कोई अन्य परमात्मा से भी अधिक बलवान और स्थाई मानना होगा।

अतः, मेरा यह मत है कि माण्डूक्योपनिषद् का प्रवक्ता अशुद्ध कह गया है अथवा यह भी सम्भव है कि जो कुछ वह कहना चाहता है, कह नहीं पा रहा।

यह दूसरी बात ही मुझे समझ आ रही है। इस उपनिषद् के प्रवक्ता ने जगत् की चार अवस्थाओं का वर्णन करते हुए इसकी तुलना करने में जो 'ओं' शब्द लिया है, वह असंगति है।

'ओं' शब्द में तीन अक्षर हैं 'अ', 'उ' और 'म्'। इन तीनों के संयोग की तुलना जागृत अवस्था के साथ तो ग्रन्थकार ने ठीक ही की है; परन्तु जगत् की कौन-कौन सी अवस्था 'ओं' की किस-किस अवस्था के साथ तुलना खाती है, इसमें वह भूल कर गया है। वह इस उपनिषद् में यह सिद्ध करना चाहता था कि ओं में 'अ', 'उ' और 'म्' है ही नहीं। वह चतुर्थ अवस्था को ओं की अवस्था कह रहा है। उसने जगत् की इस अवस्था का वर्णन किया तो उसकी 'ओं' से तुलना कर दी जो वास्तव में तीन अक्षरों का संयोग है। और चतुर्थ अवस्था में तो केवल परमात्मा ही है जो अनुभव होता है।

पूर्ण उपनिषद् में अवस्थाओं का वर्णन तो सुन्दर है, परन्तु तुलना में उपनिषद् का प्रवक्ता असफल हो गया है। यदि वह यह कहता है कि जगत् की जागृत अवस्था की तुलना 'ओं' से है और 'अ', 'उ' तथा 'म्' पृथक्-पृथक् जगत् की स्वप्नावस्था, सुषुप्ति अवस्था और तुरिया अवस्था हैं तो कदाचित् कुछ युक्तियुक्त हो जाता।

परन्तु मैं तो यह समझा हूँ कि 'ओं' शब्द में तीन अक्षर हैं 'अ', 'उ' और 'म्'। इसी प्रकार विश्व में तीन मूल पदार्थ हैं। एक परमात्मा, दूसरे जीव-आत्माएँ और तीसरे प्रकृति के परमाणु। जागृत अवस्था में जगत् के तीनों पदार्थ ऐसे घुल मिल जाते हैं जैसे 'ओं' शब्द में 'अ', 'उ' और 'म्' मिले हुए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतएव, जैसा कि मैंने कहा है, उपनिषद् के अध्ययन में वेद पथ-प्रदर्शक और कसौटी का काम करते हैं। यही कारण है कि इन दोनों उपनिषदों में मैंने यत्र तत्र वेद प्रमाण से अपने कथन को सिद्ध करने का यत्न किया है।

इस पर भी मैं अपने कथन को अन्तिम वाक्य नहीं कहता। यद्यपि अभी तक समझता यही हूँ। इस पर भी अपने कथन का संशोधन करने के लिए सदैव तैयार हूँ।

—गुरुदत्त

निवास १८,
मार्ग २८, पंजाबी बाग,
नई दिल्ली ११००२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपोद्घात

प्रत्येक उपनिषद् के आरम्भ में शान्ति पाठ के रूप में कुछ मंत्र दिये जाते हैं। मुण्डकोपनिषद् के आरम्भ में भी दो मंत्र दिये गये हैं और वही मंत्र माण्डूक्योपनिषद् में भी हैं। अर्थात् शान्ति पाठ के विचार से दोनों उपनिषदों के प्रवक्ता समान भावना से अपना प्रवचन दे रहे हैं।

हम समझते हैं कि दोनों उपनिषदों का विषय भी समान ही है। मुण्डक-उपनिषद् में यह समझाने का यत्न किया गया है कि यह कार्य-जगत् क्या है? उसमें कहा है कि तीन अक्षर पदार्थ हैं। उनका संयोग ही यह (कार्य-जगत्) है।

कार्य-जगत् का अभिप्राय है जो तीनों ब्रह्मों के संयोग से बनता है।

जीवात्मा जब जगत् का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो उस ज्ञान के परिणाम-स्वरूप वह मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है।

इस उपनिषद् में इस कार्य-जगत् का ही वर्णन है। अन्तर केवल यह है कि जहाँ मुण्डकोपनिषद् में यह बताने का यत्न किया है कि रचना की अवस्था में जीवात्मा प्रकृति के भोग भोगता है और जब वह ज्ञानवान हो जाता है और ज्ञान से उसका स्वभाव ज्ञानयुक्त बनता है, तब वह प्रकृति से छुटकारा या मोक्ष अर्थात् प्रकृति से विरक्तावस्था प्राप्त करना चाहता है।

परन्तु माण्डूक्योपनिषद् में जीवात्मा के विषय में कुछ नहीं कहा। वरन् यह कहा है कि एक ऐसी स्थिति भी आती है, जब परमात्मा प्रकृति से पृथक् हो जाता है अर्थात् जब प्रकृति के परमाणु परमात्मा की शक्ति के प्रभाव में नहीं रहते। उसे तुरिया अवस्था कहते हैं।

परमात्मा, प्रकृति और जीवात्मा के परस्पर सम्बन्धों की अवस्था का वर्णन इस (माण्डूक्य) उपनिषद् में है। दूसरे शब्दों में, संसार के मूल तत्त्वों से लेकर उस अवस्था तक का वर्णन है, जब इन तीनों का परस्पर सहयोग होता है।

इन अवस्थाओं का वर्णन करने के लिए 'ओं' शब्द की बनावट का उदाहरण लिया है। 'ओं' शब्द तीन मूल अक्षरों के संयोग का फल है। वे मूल अक्षर हैं अ, उ और म्। इन तीनों में जब सन्धि होती है तो 'ओं' बन जाता है। इसी प्रकार संसार के तीन मूल तत्त्व—परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति में परमात्मा की तुलना 'अ' अक्षर से की है, जीवात्मा की तुलना 'उ' अक्षर से तथा प्रकृति की तुलना 'म्' से की गयी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे तीनों मिलकर 'ओं' बन जाता है और 'ओं' का उच्चारण किया जा सकता है वैसे ही यह कार्य-जगत् स्वरूपवान् हो जाता है। जैसे 'अ' ह्रस्व, 'उ' और म् पृथक्-पृथक् न तो कुछ अर्थ रखते हैं न ही इनका उच्चारण हो सकता है, इसी प्रकार परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति पृथक्-पृथक् ज्ञान में नहीं आ सकते। अर्थात् वे स्वयं हीन ही रहते हैं।

इस उपनिषद् में कुल १२ मंत्र हैं। इनमें भी वास्तव में प्रथम आठ मंत्र ही पठनीय हैं। शेष मंत्र (९, १०, ११ तथा १२) तो पहले आठ मंत्रों में वर्णित स्थिति का विश्लेषण करने में कहे गये हैं।

हमारा मत है कि वास्तविक ज्ञान तो इस जगत् (चलायमान पदार्थों) का ज्ञान ही है और इस उपनिषद् के प्रवक्ता ने इन बारह मंत्रों में यही वर्णन करने का यत्न किया है। उस वर्णन में 'ओं' शब्द का उदाहरण ले लिया है। यह इस कारण क्योंकि 'ओं' शब्द भी इस कार्य-जगत् की भाँति तीन अक्षरों का समूह है। समानता होने के कारण ही 'ओं' शब्द का उदाहरण लिया गया है। अन्यथा अन्य उपनिषद्कारों ने भी इसी वस्तुस्थिति का वर्णन किया है परन्तु बिना 'ओं' शब्द का उदाहरण लिये।

इस कार्य-जगत् का वर्णन करने में जो कुशलता 'ओं' शब्द की तुलना करने में प्रयोग की गयी है वह विचारणीय है। इसी कारण इस उपनिषद् की महिमा है।

वैसे 'ओं' शब्द परमात्मा के लिए प्रयोग किया जाता है। परन्तु यहाँ इस उपनिषद् में 'ओं' परमात्मा के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ वरन् जगत् की अवस्थाओं का वर्णन करने के लिए इसका प्रयोग किया गया है। एक उपनिषद् मंत्र है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ (ईशावास्य—शान्तिपाठ)

इस मंत्र का अर्थ है—वह पूर्ण है। यहाँ वह से अभिप्राय है जो कुछ इस व्योम में उपस्थित है। वह पूर्ण है। अर्थात् उसको अपने कर्म के लिए कुछ बाहर से प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रहती। वह रचना के आरम्भ से पहले और रचना के समय भी पूर्ण ही था। यह (रचित) जगत् उस पूर्ण से बना है और पूर्ण ही बना है। अर्थात् बनने के समय बाहर से कुछ नहीं आया। और जो कुछ था वह सब कुछ ही प्रयुक्त हुआ। उस अरचित अवस्था में सब कुछ था जो इस रचित के बनने के लिए आवश्यक था। और जब बन गया तो ऐसा भी नहीं कि बनने से कुछ शेष रह गया है।

यहाँ पूर्ण से अभिप्राय है सब प्रकार के अक्षर तत्त्व जो यहाँ हैं। अर्थात् प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा। हम समझते हैं कि इसी उपनिषद् वाक्य की व्याख्या में यह माण्डूक्योपनिषद् है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शान्ति पाठ

ओं भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँ सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।

(ऋ० १-८९-८, ६)

अर्थ—हे देवाः (देवगणा) ! हम कानों से कल्याणकारी वाणी सुनें; हे यजनीय ! (यज्ञ करने योग्य !) हम आँखों से कल्याणकारी देखें, स्थिर अंगों से और शरीर से हम स्तुति करने वाले देवताओं के हित की आयु का भोग करें।

स्थिर अंगों से अभिप्राय है वे अंग जो शरीर में स्थित हैं और ज्ञान प्राप्त कराते हैं। आँख और कान शरीर से दूर का ज्ञान प्राप्त कराने की सामर्थ्य रखते हैं; परन्तु त्वचा, रसना और घ्राण-इन्द्रियाँ उन पदार्थों का ही ज्ञान करा सकती हैं जो शरीर के साथ आकर छूने लगें। इस कारण ये स्थिर अंग कहाते हैं। शरीर से अभिप्राय है हाथ पाँव इत्यादि।

यह भी कहा है कि हम स्तुति योग्य अर्थात् हम जो परमात्मा का चिन्तन करते हैं, वे देवताओं के हित करने वाली आयु का भोग करें। अर्थात् इतनी आयु का भोग करें, जिसमें हमारी इन्द्रियाँ सुख अनुभव करती रहें। यहाँ देवताओं से अभिप्राय है इन्द्रियाँ।

दूसरे मंत्र का अर्थ है--महान् कीर्तिमान इन्द्र हमारा कल्याण करे। विश्व को जानने वाला, पुष्टिकारक (सूर्य) हमारा कल्याण करे।

अरिष्टों (रोगों और विकृतियों) का नाश करने वाला और जो जानने योग्य है वह बृहस्पति (विद्वान् परमात्मा) हमारा कल्याण करे।

'द' धातु शब्द का अर्थ है धारण कराये। अभिप्राय है कल्याण करे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक उपनिषद् के आरम्भ में ऋषि शान्ति पाठ करते हैं। इसका अभिप्राय यह होता है कि ज्ञान (अध्यात्म एवं भौतिक) प्राप्त करते समय मन, बुद्धि इन्द्रियाँ तथा आत्मा शान्त और सुखी होवें। तब ज्ञान भली प्रकार प्राप्त हो सकता है।

वेदों में प्रार्थना का अभिप्राय यह होता है कि सब कुछ, जिसके लिए हम प्रार्थना कर रहे हैं, प्राप्त करने का यत्न करें। बिना यत्न के कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। माँगना तो केवल स्मरण करने के लिए होता है कि अमुक अमुक स्थिति प्राप्त करनी है। परमात्मा और देवताओं से माँगने का अभिप्राय यही है कि अमुक-अमुक पदार्थ जहाँ से प्राप्त हो सकते हैं, वहाँ से ही प्राप्त करने का उपाय हम करें।

उदाहरण के रूप में हम कहते हैं आँख और कान को कल्याणकारी दृश्य और शब्द दिखाई तथा सुनाई दें। देवताओं से अभिप्राय है प्रकाश और आकाश। उनसे जब शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और जीवात्मा सुखी होंगे, तब ही ज्ञान (अध्यात्म एवं भौतिक) की प्राप्ति सकेगी। इसी कारण उपनिषद्कार उपनिषद् कहने से पहले शान्ति पाठ करते हैं। उपनिषद् का अर्थ है समीप बैठकर अर्थात् गुरु के पास बैठकर ज्ञान प्राप्त करना। समीप बैठने से पूर्व स्वस्थ मन आदि होकर ज्ञान श्रवण करना चाहिए। शान्ति पाठ का यही अभिप्राय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुण्डकोपनिषद्

प्रथम मुण्डक

प्रथम खण्ड

ओं ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव
विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठा-
मथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ।। १ ।।

अर्थ—सब देवताओं से पहले ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। वह सम्पूर्ण संसार को बनाने वाला भुवन का रक्षक है। उसने ब्रह्म विद्या, जो सब विद्याओं का आधार है, अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को कही। अभिप्राय है उसका उपदेश दिया।

ब्रह्मा, देवताओं में सबसे पहले उत्पन्न हुआ कहा है। देवताओं से अभिप्राय है वे पदार्थ जो दिव्य गुण वाले हैं। ऐसे पदार्थों में ब्रह्मा पहले हुआ। प्रश्न यह है कि ब्रह्मा क्या था? इसकी परिभाषा क्या है?

कहा है कि जो सृष्टि-रचना में सबसे पहले उत्पन्न हुआ, वह ब्रह्मा था। इस बात को वेद मंत्र में स्पष्ट किया गया है। ऋग्वेद का एक मंत्र है—

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शमन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ।।
(ऋ० १०-१२९-१)

सृष्टि-रचना से पूर्व सत् असत् नहीं थे क्या? क्या रजः (नक्षत्र) नहीं था? क्या व्योम नहीं था? क्या किसको ढाँपे हुए था? और इस गहराई में क्या था?

इस मंत्र में कुछ प्रश्न पूछे गये हैं और इससे अगले मंत्र में उन प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। कहा है—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ।।
(ऋ० १०-१२९-२)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह अवस्था रचना आरम्भ होने से पूर्व की है। कहा है कि इस समय न तो कुछ नष्ट हो रहा था न ही नष्ट होने वाला था। न रात थी न दिन था। बनने योग्य कुछ नहीं था। वहाँ आनीत् अवातम् था और इसके साथ स्वधा थी। अन्य कुछ दिखाई नहीं देता था।

ऐसी अवस्था में रचना आरम्भ हुई। कहा है—

तम आसीत् तमसा गुळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥
(ऋ० १०-१२९-३)

रचना से पहले सब कुछ अन्धकार से ढपा हुआ था। यह (तमः) प्रकृति थी। इसे ही पूर्व के मंत्र में स्वधा कहा है। स्वधा का अभिप्राय है अपने आप में स्थिर (Self sustained)। तब कुछ जानने योग्य नहीं था। स्वधा सलिल अवस्था में था। उस सूक्ष्म में तप करने से एक उत्पन्न हुआ।

इस एक को उपनिषद् में ब्रह्मा कहा है। एक अन्य मंत्र में इसके स्वरूप का वर्णन किया है। कहा है—

यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन्॥
(ऋ० १-१६३-१)

अर्थात्—जो घोर शोर मचाता हुआ प्रथम उत्पन्न होता हुआ, अन्तरिक्ष में ऊपर को उठता हुआ बहुत वेग से फैलता गया, वह अर्वन् है।

इस 'एक' को ही उपनिषद् में ब्रह्मा कहा है। यह अर्वन् है जो सृष्टि-रचना के लिए उत्पन्न हुआ। उपनिषद में कहा है कि ब्रह्मा ने सृष्टि-रचना की। इस कारण हम इसे ही (अथवा मंत्र १०-१२९-३ में जो एक उत्पन्न हुआ कहा है) ब्रह्मा मानते हैं।

मनुस्मृति में इसको स्वयम्भू कहा है।

ततः स्वयंभूर्भगवानऽव्यक्तोव्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥ (मनुः १-६)

भगवान् स्वयंभू ने अव्यक्त (प्रलयावस्था) से यह महाभूतों को बनाकर सब निर्माण किया। अतः यह ब्रह्मा ही था।

ब्रह्मा भुवन का रक्षक है। भुवन से अभिप्राय है रचित-जगत्। ब्रह्मा इसे बनाता है और उसकी रक्षा भी करता है। ब्रह्मा एक शक्ति थी जो रचना आरम्भ होने से पहले भी उपस्थित थी। परन्तु उस समय यह अवातम् अवस्था में थी। ऐसा १०-१२९-२ में कहा है। अवातम् का अर्थ है जो गतिशील नहीं थी। रचना के समय परमात्मा ने इसे गतिशील किया। इस विषय में हम इस उपनिषद् के मंत्र १-१-९ की व्याख्या करते हुए बतायेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मा ने उत्पन्न होते ही एक पुत्र उत्पन्न किया। उसे अथर्वा कहा है। अथर्वा अथरा धातु से व्युत्पन्न है। मोनियर विलियम ने अपने शब्द-कोष में कहा है 'अथरा' का अर्थ अग्नि है। हम समझते हैं कि अथर्वा शब्द 'अत्' धातु से व्युत्पन्न है। 'अत्' के अर्थ हैं 'सातत्य गमने'—वह सत् जो अति गमनशील है। यह इन्द्र ही है।

ब्रह्मा ने सबसे पहले इन्द्र को उत्पन्न किया। इस विषय में भी वेद में कहा है—

यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात् सूरादश्वं वसवो निरतष्ट ॥

(ऋ० १-१६३-२)

अर्थात्—जब नियंत्रणकर्त्ता परमात्मा से दी हुई लगाम त्रित पर लगी तो उस पर पहले इन्द्र अधिष्ठित था। तब इन्द्र निर्मुक्त हो गया। इसका अभिप्राय यह है कि इन्द्र त्रित के भीतर बैठा था। जब अर्वः उस पर लगाम बन गया तो उसमें बैठा इन्द्र बाहर निकल आया। अतः इन्द्र को अर्वः ने उत्पन्न किया था। उपनिषद् में कहा है कि इन्द्र अर्थात् अथर्वा ब्रह्मा का पुत्र है। ब्रह्मा ने ब्रह्म विद्या जो सब विद्याओं का आधार है, अथर्वा को दी।[1]

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा—
ऽथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह
भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥ २ ॥

अर्थ—ब्रह्मा ने जो अथर्वा को उपदेश किया था वह पूर्व काल में अथर्वा ने अंगी को दिया था। अंगी ने भरद्वाज गोत्रीय सत्यवहा को वही विद्या दी। और भरद्वाज ने वह विद्या अंगिरा को दी।

ब्रह्मा आदि शक्ति थी जिसने यह रचना आरम्भ की थी और जो इस रचना की रक्षा कर रहा है। यह शक्ति परमात्मा की है। इसे अर्वः कहा है। इसे ही ऋ० १-१-१ में अग्नि कहा है। इसने ही सृष्टि के सब पदार्थ बनाये।

हमने यह भी बताया है कि अथर्वा इन्द्र है। इन्द्र भी शक्ति है। उपनिषद् में कहा है कि ब्रह्मा ने इन्द्र को उपदेश किया था। किस बात का उपदेश किया

---

१. इसकी व्याख्या लेखक की रचना 'सृष्टि रचना' के पृष्ठ ५९ पर पढ़ें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था ? वही जो वह स्वयं कर रहा था, अर्थात् सृष्टि-रचना का। इन्द्र उसको करने लगा। वेद में कहा है कि परमात्मा का वेद ज्ञान देवताओं के सहयोग से पृथिवी पर आया।

छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं··· (ऋ० १०-१३०-३)

अर्थात्—छन्द क्या क्या थे ? उनका विशेष अभिप्राय क्या था ?

इस प्रश्न के उत्तर में वेद कहता है कि भिन्न-भिन्न देवताओं के सहयोग से छन्द पृथिवी पर आये (ऋ० १०-१३०-४, ५)।

साथ ही कहा है कि इन छन्दों से ऋषि और मनुष्य ज्ञानवान हुए।

चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे ।
पश्यन् मन्ये मनसा चक्षसा तान् य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे ॥
(ऋ० १०-१३०-६)

अर्थात्—सृष्टि सम्बन्धी इस यज्ञ में (सृष्टि-रचना होने पर) उसके द्वारा ऋषि, पितर और मनुष्य ज्ञानवान् हुए, जैसे पूर्व कल्प में हुए थे।

अतः जो उपनिषद् में कहा है कि इन्द्र ने अंगी ऋषि को उपदेश दिया और अंगी ने सत्वह को और भरद्वाज ने अङ्गिरा को वही ज्ञान दिया, इसका अभिप्राय है कि वेद ज्ञान की परम्परा चल पड़ी।

अङ्गिरा से अभिप्राय अंगों वाला अर्थात् मनुष्य है।

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥ ३ ॥

अर्थ—शौनक जो बहुत बड़े भवनों में रहता था अर्थात् एक धनवान गृहस्थ था, वह अंगिरा (एक विद्वान व्यक्ति) के पास आया और पूछने लगा, भगवन् ! किसको जान लेने पर सब कुछ का पता चल जाता है ? वह क्या है ?

हमने अंगिरा का अर्थ ज्ञानवान् मनुष्य कहा है। एक शौनक नाम का गृहस्थ, जो धनवान कहा गया है, वह ऋषि अंगिरा के पास आया और पूछने लगा कि वह क्या पदार्थ है जिसको जान लेने से सब कुछ जाना जा सकता है ? अंगिरा ने उपदेश दिया और वह उपदेश ही इस उपनिषद् में कहा गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

R089.9143
GUR-M
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
Central Library
167870
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म
यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥ ४ ॥

अर्थ—अंगिरा ने शौनक को बताया कि दो विद्यायें जानने योग्य हैं। एक अपरा और दूसरी परा।

अंगिरा का यह वाक्य भी वेद का मंत्र ही है। यजुर्वेद में कहा है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय ँसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ (यजु: ४०-१४)

जो लोग विद्या और अविद्या दोनों को जान लते हैं, वे अविद्या के जानने से इस संसार को सुगमता से पार कर जाते हैं और जो विद्या को जान जाते हैं वे अमृत (मोक्ष) को प्राप्त कर लेते हैं।

अविद्या उन पदार्थों के ज्ञान को कहते हैं जो सदा विद्यमान नहीं रहते। यह निर्मित जगत् है। जो बना है वह टूटता है। ऐसे पदार्थों के ज्ञान को अविद्या कहा है। इन पदार्थों के विषय में जान लेने पर इस संसार-सागर से सुगमता से पार पाया जा सकता है।

और अनादि अविनाशी पदार्थ भी हैं। वे विद्या कहे गये हैं। उनके ज्ञान से जन्म-मरण से मुक्ति मिलती है।

ऐसा वेद का कहना है। उपनिषद् कहता है कि अविद्या 'अपरा' है और विद्या 'परा' है। दो प्रकार की विद्याएँ हैं—अपरा और परा। अभिप्राय यह कि इन दोनों को जान लेने के उपरान्त अन्य कुछ जानने को नहीं रह जाता।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः
शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।
अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ ५ ॥

अर्थ—अपरा है जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम वेद और अथर्व वेद में शिक्षा, कल्प, ज्योतिष, व्याकरण, निरुक्त और छन्द के विषय में कहा है। और जो अक्षर का ज्ञान कहा है, वह परा है।

उपनिषद् के इस मंत्र का अर्थ शंकरपंथियों ने विकृत किया है। शंकराचार्य इस उपनिषद् के भाष्य में लिखते हैं—

तत्र कापरेत्युच्यते—ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद इत्येते चत्वारो वेदाः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमित्याङ्गानि षडेषापरा विद्या।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथेदानीमियं परा विद्या उच्यते यया तद्वक्ष्यमाणविशेषणम् अक्षरमधिगम्यते—

इसका अर्थ है कि अपरा तो चारों वेदों और उनके छः विषयों में है और परा पृथक् है। स्वामी जी कहते हैं कि वह उपनिषद् के अगले मंत्र में कही गयी है।

मंत्र के ऐसे अर्थ नहीं हैं। मंत्र में शब्द है 'यया'। इसका अर्थ है कि वह जो अक्षर के विषय में है वह परा है। वह कहीं अन्यत्र नहीं है। वह वेद में ही है। उपनिषद् के अगले मंत्र में जो कहा है, वह हम उस मंत्र के भाष्य में देखेंगे।

वस्तुस्थिति यह है कि वेद में अक्षर का भी ज्ञान है। जो कुछ उपनिषद् में कहा है वह वेद में पहले ही विद्यमान है। यास्क अपने निरुक्त ग्रन्थ में कहता है—

तत्र तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताः आध्यात्मिक्यश्च।
(यास्क निरुक्त ७-१)

अर्थ—ऋचः तीन प्रकार की हैं। परोक्ष अर्थात् अप्रत्यक्ष पदार्थों के विषय में। साथ ही प्रत्यक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष पदार्थों के विषय में। तीसरे अध्यात्म के विषय में।

इसका अभिप्राय है कि वेद में परा और अपरा दोनों प्रकार की ऋचाएँ हैं। वैसे तो इस मुण्डक उपनिषद् में भी परा-अपरा दोनों प्रकार की विद्याओं का उल्लेख है। एक वेद मंत्र हम दे रहे हैं जिसमें परमात्मा का स्वरूप वर्णन किया गया है। वह मंत्र है—

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽ
अर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ (यजु: ४०-८)

परमात्मा सब स्थान पर व्यापक है। वह अति बलवान है और बिना शरीर के है। उसमें छिद्र नहीं हैं। उसके नस-नाड़ियाँ नहीं हैं। शुद्ध और पाप से अविद्ध है। महान् ज्ञानवान, मननशील, उत्पत्ति के बिना है, वह स्वयम्भू है। वह सब में उपस्थित है।

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति
धीराः॥ ६॥

अर्थ—वह जो अदृश्य है, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण और चक्षु श्रोत्रादि हीन है, इसी प्रकार अपाणिपाद, नित्य विभु, सर्वगत, अत्यंत सूक्ष्म और अव्यय है तथा जो सम्पूर्ण भूतों का कारण है, उसे विवेकी लोग सब ओर देखते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस मंत्र (मु० १-१-६) में एक अक्षर का वर्णन है। उस अक्षर का नाम नहीं लिखा। हम समझते हैं कि यह अक्षर प्रकृति है। वह है तो परा ही। परन्तु संसार में तीन अक्षरों में एक है। तीन अक्षर हैं परमात्मा, जीवात्माएँ और प्रकृति। वेद में तीनों अक्षरों का वर्णन है। एक मंत्र है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥

(ऋ० १-१६४-१)

अर्थात्—एक सुन्दर परन्तु बूढ़ा हो जाने वाले के मध्य में एक उसका भाई बैठा है जो इस का भोग करता है। एक तीसरा भाई है जो इन दोनों का पालन और इनकी रक्षा करता है। वह सात पुत्रों की सहायता से ऐसा करता है।

इस मंत्र में तीन भाई कहे हैं। एक सुन्दर है परन्तु बूढ़ा होने वाला अर्थात् परिणामी है। दूसरा पहले का भोग करता है। तीसरा इन दोनों की रक्षा और पालन करता है। यह मनुष्य शरीर में प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा का वर्णन है।

एक अन्य मंत्र है। उसमें बात और भी स्पष्ट कर दी है। कहा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

(ऋ० १-१६४-२०)

अर्थात्—एक वृक्ष पर दो सुन्दर गति वाले पक्षी बैठे हैं। एक पक्षी उस वृक्ष के पके फल खाता है और दूसरा नहीं खाता। केवल साक्षी मात्र है। वे सुन्दर गति वाले सयुजा अर्थात् संयुक्त हैं और सखा हैं।

मंत्र १-१६४-१ में तीनों को भाई कहा है और बताया है कि एक का दूसरा स्वाद से भोग करता है। इस मंत्र (१-१६४-२०) में कहा है कि दो सुन्दर गति वाले एक वृक्ष पर बैठे हैं। वृक्ष का अभिप्राय है जो कांट-छांट कर भिन्न-भिन्न रूपों में बदला जा सकता है। यह प्रकृति है। यहां भी कहा है कि एक इस वृक्ष के फल खाता है और दूसरा नहीं खाता।

इन दोनों मंत्रों में तीन भाई सयुजा सखा कहे हैं। अर्थात् तीनों अनादि अव्यक्त हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (१-७) में तो और भी स्पष्ट रूप में कहा है—

ऊपर (श्वे० उप० १-६ में) जिसका वर्णन किया गया है वह परम ब्रह्म है। इस संसार को इस मंत्र में परम ब्रह्म कहा है। उस परम ब्रह्म में तीन अक्षर हैं। उनके अतिरिक्त ब्रह्म के जानने वाले भी उसमें विद्यमान हैं और वे जन्म-मरण से रहित हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये तीन अक्षर हैं—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशा-
वजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता
त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥ (श्वे० १-९)

अर्थात्—ज्ञानवान् (परमात्मा) और अज्ञानी (जीवात्मा) दोनों अजन्मा हैं। एक अन्य भी अजन्मा है जो भोग करने वाले के लिये भोग्य उपस्थित करता है। अनन्त आत्मा [वह आत्मा जो असीम है अर्थात् परमात्मा] तो संसार को बनाने वाला है और अकर्ता है अर्थात् निर्लेप है। इस प्रकार जो तीन प्रकार के ब्रह्म को जानता है वही जानता है।

यह हमने बताया है कि इस संसार में तीन प्रकार के ब्रह्म हैं और तीनों अक्षर हैं। उन तीनों अक्षरों में से एक का ही वर्णन उपनिषद् (मु० १-६) में है। इसे ही प्रकृति कहा है। मनुस्मृति में भी प्रकृति का इसी प्रकार वर्णन है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ (मनु० १-५)

अर्थ—यह अन्धकारमय थी जो जानी नहीं जाती थी और जिसके कोई लक्षण दिखाई नहीं देते थे। उसकी विवेचना (तर्क से) नहीं की जा सकती। वह जानी नहीं जा सकती। सब ओर से सोई हुई प्रतीत होती थी।

अतः हमारा मत है कि उपनिषद् के मंत्र १-१-६ में प्रकृति का वर्णन है और वह अक्षर है अविनाशी तथा अजन्मा है। यह भी कहा है कि वह सब भूतों (आकाश, अग्नि, वायु, जल, पृथिवी) को जन्म देती है। इसी का वर्णन अगले मंत्र में है।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती है और निगल जाती है, जैसे पृथिवी में औषधियां उत्पन्न होती हैं और जैसे जीवित पुरुष से केश और लोम उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार इस अक्षर से यह सम्पूर्ण संसार उत्पन्न होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मकड़ी का जाला मकड़ी के शरीर से उत्पन्न होता है न कि मकड़ी के जीव से। इसी प्रकार पृथिवी जड़ है और वनस्पतियाँ पृथिवी से बनती हैं। उससे वनस्पतियों का शरीर ही बनता है। इसी प्रकार जीवित पुरुष के शरीर से ही लोम इत्यादि उत्पन्न होता है। शरीर भी जड़ है और लोम इत्यादि भी जड़ ही हैं।

अतः, उपनिषद्कार ने कहा है कि जड़ प्रकृति से प्रकृति के कई रूप उत्पन्न होते हैं और फिर उसी में विलीन हो जाते हैं। पूर्ण संसार जड़ प्रकृति से ही उत्पन्न हुआ है। यह ठीक ही है कि प्रकृति भी अक्षर है। वेद का ही यह सिद्धान्त है कि तीन अक्षर हैं।

यहां हम बताना चाहते हैं कि इस जड़ प्रकृति से संसार की उत्पत्ति का वर्णन कर उपनिषद् में भी अपरा विद्या का वर्णन कर दिया है।

स्वामी शंकराचार्य का यह कहना कि वेदों में केवल अपरा है, अशुद्ध है। वेद और उपनिषद् दोनों में अपरा तथा परा विद्याएं हैं। वेद में ठीक ही कहा है कि अविद्या और विद्या दोनों को जानना चाहिये।

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥ ८ ॥

अर्थ—तप से और ज्ञान से ब्रह्मा अन्न उत्पन्न करता है। फिर अन्न से क्रमशः प्राण, मन, सत्य, लोक, कर्म और अमृत संज्ञा वाले कर्म-फल उत्पन्न होते हैं।

इस मंत्र में प्रकृति से सृष्टि-रचना का वर्णन है। जैसा कि हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं ब्रह्मा परमातमा की आदि शक्ति है जो रचना से पहले अवातम् (अचल) अवस्था में थी। हमने यह भी स्पष्ट किया है कि यह शक्ति रचना के आरम्भ के समय प्रकट हुई अर्थात् ब्रह्मा प्रकट हुआ और प्रकृति के परमाणुओं पर अधिष्ठित हो गया।

पहले परमाणु में इन्द्र अधिष्ठित था। जब ब्रह्मा जिसे वेद मंत्र में अर्वः कहा है परमाणु पर अधिष्ठित (सवार) हुआ तो महत् बना और महत् को अन्न कहा है। अन्न इस कारण कि जैसे अन्न खा कर मनुष्य का शरीर बनता है, वैसे ही परमाणुओं से सत्य की उत्पत्ति होती है। इन्द्र जिसे प्राण कहा है वह तो पहले ही निर्मुक्त हो चुका था। इन्द्र ही शरीर में अंग-प्रत्यंग का निर्माण करता है। अंग भी इन्द्र से ही उत्पन्न होते हैं। मनुष्य शरीर में प्राण दो प्रकार के हैं। एक वह जिससे मनुष्य के हाथ-पांव काम करते हैं। ये प्राण मनुष्य के अधीन हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य चाहे तो इनसे काम करे और चाहे न करे। परन्तु मनुष्य शरीर में एक दूसरे प्रकार का प्राण भी है। वह मनुष्य की इच्छा के बिना भी काम करता है। उससे हृदय, फुस-फुस, आँतें इत्यादि काम करती हैं। ये तब तक काम करती हैं जब तक परमात्मा चाहता है। इसे महा-प्राण कहते हैं। इस महा प्राण से मन की सृष्टि कही है। उपनिषद्कार का अभिप्राय मन और बुद्धि दोनों से है। महा-प्राण से ही सत्य की उत्पत्ति कही है।

तपसा का अर्थ है प्रयत्न और चीयते का अर्थ है ज्ञान। प्रयत्न परमात्मा ने किया था और उस प्रयत्न में अपने ज्ञान से लाभ उठाया था। जब ज्ञानयुक्त प्रयत्न हुआ तो सृष्टि-रचना आरम्भ हो गयी। सत्य का अभिप्राय बृहदारण्यक उपनिषद् में बताया है। वहाँ कहा है—

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म प्रजापतिं ।।

बृ० उ० ५-५-१ ।।

अर्थात्—पहले यह जगत् आपः ही था, उस आपः स सत्य की रचना हुई। ब्रह्मा प्रजापति था।

आपः से चलायमान जगत् उत्पन्न हुआ। यहां कहा है कि यह ही सत्य है। ब्रह्मा जिसने यह सब रचना की वह प्रजापति कहा जाता है।

आपः से चलायमान जगत् की उत्पत्ति वेद में भी कही है।

असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि ।।

(ऋ० १-१६३-३)

और आगे कहा है—

त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे ।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन् यत्रा त आहुः परमं जनित्रम् ।।

(ऋ० १-१६३-४)

अर्थात्—सोम (परमात्मा की शक्ति) से (परमाणु की) साम्यावस्था फट गयी और उससे तीन निबन्धन (संयोग) बन गये। कहते हैं कि वे तीन आपः हैं। उनसे ही अन्तरिक्ष में तीन आपः बने। वही तीन हैं जो परमात्मा की वाणी छन्दों में उच्चारण कर रहे हैं और इस महान् जगत् की रचना कर रहे हैं।

साम्यावस्था थी परमाणु की, जिसमें तीन शक्तियां—सत्त्व, रजस् और तमस् संतुलित अवस्था में थीं। मंत्र में कहा है कि यह संतुलित सोम, परमात्मा की शक्ति से टूटा और ये शक्तियां फट गयीं, जिससे वे तीनों शक्तियां बहिः मुख होकर पड़ोस के परमाणुओं को आकर्षित करने लगीं।

इस मंत्र में कहा है कि परमाणुओं के इस आकर्षण से ही रचना-कार्य आरम्भ हो गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही उपनिषद् में कहा है कि परमात्मा के ज्ञान से और तप से सृष्टि-रचना हुई। परमाणुओं के गुणों के बहिः मुख हो जाने से महत् बनता है। सांख्य दर्शन में कहा है—

सत्त्व रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्—

(सां० द० १-६१)

अर्थात्—सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था प्रकृत्ति कहाती है। और (यह साम्यावस्था भंग होने पर) महत् की उत्पत्ति होती है।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ।। ९ ।।

अर्थ—जो सब कुछ जानने वाला है और सबके विषय में जानता है, उससे ही यह (महान्) ब्रह्म उत्पन्न हुआ। इससे ही वस्तुओं के नाम, रूप और अन्न उत्पन्न हुए।

ऊपर उपनिषद् १-१-८ में कहा है कि ब्रह्मा के ज्ञानमय तप करने से प्राण इत्यादि बने। यहां कहा है कि रूप नाम वाले जगत् के पदार्थ बने। अन्न का अभिप्राय हमने बताया है कि प्रकृति का प्रथम परिणाम (महत्) है। महत् को अन्न क्यों कहा है ? इस कारण कि अन्न की भांति यह ब्रह्मा के शरीर को बनाता है। ब्रह्मा का शरीर ही यह जगत् है। मनुस्मृति में (मनु० १-१७) में यह कहा है कि मनीषि ब्रह्मा का शरीर ही जगत् के सब सूक्ष्म अवयव हैं।

उपनिपद् के इस मंत्र १-१-९ के साथ प्रथम खण्ड समाप्त होता है। इस खण्ड में उपनिपद्कार ने बताया है—

१. दिव्य गुण वाले पदार्थों में सबसे पहले ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। यह परमात्मा की अनादि शक्ति है और सृष्टि-रचना के समय प्रकट हो जाती है। वेद में इसके कई नाम दिये हैं। अग्नि, अर्वः, अश्व, तेज इत्यादि।

२. ब्रह्मा का पुत्र अथर्वा था। वेद में ब्रह्मा अर्थात् परमात्मा की अनादि शक्ति से इन्द्र जो परमाणु के भीतर बैठा था, प्रकट हुआ (उत्पन्न हुआ)। अतः अथर्वा और और इन्द्र एक ही शक्ति के दो नाम हैं।

३. ब्रह्मा तथा इन्द्र शक्तियां ही थीं। इनमें ब्रह्मा सबसे पहले उत्पन्न हुआ और फिर ब्रह्मा का पुत्र अथर्वा हुआ, उसको ब्रह्मा ने उपदेश दिया। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मा ने इन्द्र को परमाणु से निर्मुक्त किया था। इससे वह उसका पुत्र हुआ और अपनी शक्ति से ब्रह्मा का कार्य (जगत् रचना) करने लगा था। उपनिषद्कार कहता है कि अथर्वा ने अंगी ऋषि को उपदेश किया और अंगी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने भारद्वाज-गोत्री सत्यवह को और भरद्वाज ने अंगिरा को उपदेश दिया। अंगी, सत्यवह और भरद्वाज तो ऋषि थे, परन्तु अंगिरा से अभिप्राय मनुष्य है। अब सृष्टि-रचना का कार्य मनुष्य कर रहा है।

४. सृष्टि-रचना ऐसे ही होती है जैसे मकड़ी जाला बनाती है, अथवा पृथिवी वनस्पतियां उत्पन्न करती है अथवा जैसे मनुष्य शरीर से लोम और केश उत्पन्न होते हैं। प्रकृति एक अक्षर पदार्थ है। वेद में तीन अक्षर पदार्थ माने हैं। परमात्मा जीवात्माएं और प्रकृति। तीनों को ब्रह्म कहा है। तीनों के समूह से बने जगत् को परम-ब्रह्म कहा है। इस परम ब्रह्म में तीन अक्षर प्रतिष्ठित हैं। ब्रह्म में लीन भी इसी जगत् में रहते हैं। वे जन्म मरण से मुक्त होते हैं।

५. क्षर पदार्थों की विद्या को अपरा कहते हैं, अक्षरों की विद्या को परा कहते हैं। इन दोनों को जान लेने से सब जानने योग्य जाना जा सकता है।

द्वितीय खण्ड

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि।
तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥१–॥

अर्थ—जिन मंत्रों से बुद्धिमान् ऋषियों ने कर्मों का साक्षात्कार किया, वही यह सत्य है। [त्रेतायुग में उन कर्मों का अनेक प्रकार से विस्तार हुआ। सत्य की कामना से युक्त होकर उन [कर्मों] का नित्य आचरण करो। यही सुकृत का मार्ग है।

इस मंत्र में कहा है कि जिस कर्म का ऋषियों ने छन्दों से साक्षात्कार किया था, उन कर्मों से ही उन्होंने सत्य की कामना की। हमने बृहदारण्यक के उदाहरण से सत्य के अर्थ बताये हैं। वहां कहा है कि आपः से जो सृष्टि बनी है, वही सत्य है। अर्थात् यह चराचर जगत् सत्य है।

यहां इस मंत्र में कहा है कि ऋषियों ने वेदों से जो कर्म जाने, उनको भी उन्होंने करना आरम्भ कर दिया। वे कर्म त्रेतायुग में बहुत विस्तार से किये गये हैं।

कुछ भाष्यकारों का मत है कि ऋषियों ने वेदों से नाना प्रकार के हवन-यज्ञों की कल्पना की। उन यज्ञों की व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में की गयी है। हमारा इससे मतभेद है। यह ठीक है कि अनेक प्रकार के यज्ञ-हवन इत्यादि का वर्णन ब्राह्मण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रन्थों में दिखाई देता है, परन्तु वहाँ यज्ञों का वर्णन है अलंकार रूप में ही। वास्तव में वे अनेक प्रकार के कर्म हैं जो मनुष्य को जीवनयापन के लिये करने को कहे गये हैं।

उदाहरण के रूप में शतपथ ब्राह्मण में यजुर्वेद के मंत्र १-५ की व्याख्या में कहा है—

> व्रतमुपैष्यन्। अन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्राङ् तिष्ठन्नपऽउपस्पृशति तद्यदप उपस्पृशत्यमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति तेन पूतिरन्तरतो मेध्या वाऽआपो मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति पवित्रं वाऽआपः पवित्रपूतो व्रतमुपायानीति तस्माद्वाऽअप उपस्पृशति ॥ (शतपथ १-१-१-१)

व्रत करने वाला मनुष्य आहवनीय और गार्हपत्य अग्नियों में खड़ा होकर हाथ में पवित्र जल ले कर आचमन करे और यह व्रत करे ... वह क्यों जल का आचमन करे और क्या व्रत ले, यह वहां कहा है। आहवनीय अग्नि का अभिप्राय यज्ञ रूप कर्म में व्यय किया परिश्रम है और गार्हपत्य का अभिप्राय है गृहस्थ जीवन के लिये किया गया परिश्रम।

व्रत की बात अगली कण्डिका में कही है। उसमें कहा है—

> सोऽग्निमेवाभीक्षमाणो व्रतमुपैति। अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यतामित्यग्निर्वै देवानां व्रतपतिस्तस्माऽएवैतत्प्राह व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यतामिति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥ (शतपथ १-१-१-२)

अर्थात्—आहवनीय अग्नि की ओर देख कर यह व्रत करता है। व्रत करता हुआ यह कहता है (यजुः १-५ मंत्र का अर्थ है)—हे अग्निस्वरूप परमात्मा ! तू सब व्रतों का पालक है। इस कारण मैं तुम को साक्षी मान कर यह व्रत करता हूँ कि (वेद में कहे अनुसार) कर्म करूंगा और मैं अनृत को छोड़ कर सत्य को ग्रहण करूंगा।

इससे अगली कण्डिका में कहा है कि गृहस्थ मंत्र (यजु०) १-५ लेकर २-२८ तक का पालन कर व्रत को पूर्ण कर चुका है और अपने को कृत कृत्य मानता है।

जो कुछ यजु० १-५ से लेकर २-२८ तक के मंत्रों में कहा है उसको पालन करने का व्रत उसने वहां कहे अनुसार लिया है। शतपथ ब्राह्मण में भी प्रथम खण्ड के प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्याय में ऊपर वेद में बताये अंश की व्याख्या की है। इन मंत्रों में जो कुछ कहा है उसकी ही व्याख्या शतपथ ब्राह्मण के पूर्वोक्त अध्यायों में अलंकार के रूप में कही है।[1]

---

१. इस विषय पर विशेष विवेचना के लिये देखें लेखक की रचना 'यजुर्वेद और गृहस्थधर्म।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः हमारा मत है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के अलंकारों को समझने के लिये सम्बन्धित वेद मंत्रों को पढ़कर समझने की आवश्यकता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में वेदों की बात को समझाने के लिये अलंकार के रूप में वर्णन है। वहां अग्नि होतादि से अभिप्राय नहीं है।

इस उपनिषद् में तो केवल यह कहा है कि जो कर्म वेदों से ऋषियों ने साक्षात्कार किये उन कर्मों में त्रेता युग में बहुत विस्तार किया गया था। इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति के जो रहस्य वेद में बताये गये थे, उन रहस्यों को त्रेता युग में विस्तारपूर्वक जाना गया था। इसका अर्थ यह है कि इस युग में भारी भौतिक उन्नति की गयी थी। उपनिषद् में कहा है कि वे कर्म सत्य हैं। सत्य का अर्थ है यह जगत्। इस कारण उन वेद मंत्रों में इस जगत् का ही ज्ञान है।

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत् ॥२॥

अर्थ—जिस समय अग्नि प्रज्ज्वलित होकर उसकी लपटें उठने लगें, उस समय मध्य में घी (अग्नि को तेज करने वाले) की दो आहुतियाँ दे।

अन्य भाष्यकारों ने इस मंत्र का अभिप्राय यह लिखा है कि जब अग्निहोत्र किया जा रहा हो और जब हवन कुण्ड में से अग्नि की लपटें उठने लगें, तब कुण्ड के मध्य में घी की दो आहुतियाँ देवे। यह अर्थ सर्वथा अशुद्ध है। हमने पूर्व मंत्र के अर्थ में यह समझाने का यत्न किया है कि वेद में यज्ञ का अर्थ देव यज्ञ अर्थात् हवन नहीं है और कर्म का अर्थ यज्ञ है। वेद में कर्म अर्थात् यज्ञ का अर्थ जीवन कार्य है और उसके विषय में ही वेद मंत्र हैं। इस उपनिषद् में भी किसी प्रकार के हवन की बात नहीं कही जा रही। इसका अभिप्राय यह है कि गृहस्थ जब कोई व्यापार अथवा उद्योग जीविका के लिए कर रहा हो और उस कार्य की लपटें उठने लगें अर्थात् वह कार्य जब उन्नत अवस्था में चलने लगे तो यज्ञ को तेज करने वाले द्रव्यों की आहुतियाँ मध्य में दे। इसका अभिप्राय यह है कि चलते कार्य में उसको तेज करने के लिए और प्रयत्न करे। अभिप्राय यह कि कार्य चलता देख प्रयत्न शिथिल न होने दे। उसको निरन्तर उन्नत करता रहे। उतने पर संतुष्ट न हो जाये।

एक बात हम यहाँ और बता देना चाहते हैं कि जैसे वेद कर्म की शिक्षा देते हैं, वैसे ही उपनिषद् भी कर्म करने की ही महिमा का वर्णन कर रहा है। यह ठीक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि कर्म करने वाला जीवात्मा है परन्तु कर्म तो इस संसार में ही होता है। संसार अपरा है और उपनिषद् उसके विषय में ही कह रहा है।

सूत्र में कहा है कि जब कार्य वेग से चलने लगे तब उसके मध्य में आहुतियाँ दे। अर्थात् अपना प्रयत्न शिथिल मत होने दो। कार्य को उत्तरोत्तर उन्नत करता जाए।

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमास-
मचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुत-
मासप्तमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति ॥३॥

अर्थ—जिसका अग्निहोत्र (यज्ञ कर्म) दर्श, पौर्णमास, चतुर्मास और आग्रयण, इन कर्मों से रहित अथवा अतिथि पूजन से वर्जित और सब विद्वानों के सत्कार के बिना अविधिपूर्वक किया जाता है, उसकी मानो सात पीढ़ियों का यह नाश कर देता है।

दर्श का अभिप्राय है दिन। यहाँ अभिप्राय यह है कि कार्य के दिन के अन्त में अथवा एक मास के अंत में अथवा चार मास के अन्त में, यदि लेखा-जोखा नहीं होता और उस यज्ञ अर्थात् कर्म में भाग लेने वालों को उजरत नहीं दी जाती, साथ ही उस काम से अतिथि-पूजन नहीं किया जाता तथा विश्व के विद्वानों का पूजन नहीं किया जाता तो ऐसे विधिरहित कर्म करने वाले का सात जन्म तक अकल्याण ही होता है।

इस मंत्र का अभिप्राय है कि जब कोई व्यवसाय किया जाये तो उसके लाभ का वितरण दैनिक होना चाहिए, अथवा मास के अन्त में अथवा चार मास के उपरान्त होना चाहिए। साथ ही व्यवसाय के लाभ में से अतिथि-सेवा होनी चाहिए और विद्वानों की सेवा भी होनी चाहिए।

दिन के दिन, मास पूर्ण होने पर अथवा चार मास पर हिसाब किया जाय। उपनिषद्कार का अभिप्राय यह है कि इस समय पर व्यवसाय का लेखा-जोखा कर जिनका लाभ में भाग बनता है उनको दे देना चाहिए। अतिथि का अभिप्राय यह है कि वे विद्वान लोग जो अपनी विद्वत्ता का फल लोगों को देने के लिए बिन बुलाये आ जावें, ऐसे तथा अन्य विद्वानों का सत्कार यदि न किया जाये तो ऐसा व्यवसाय करने वाला सात जन्म तक अकल्याण का भागी बन जाता है।

इससे पूर्व के मंत्र में कहा है कि जब यज्ञ की लपटें उठने लगें तब यज्ञ के मध्य 'आज्या' आहुति देवे। इसी आहुति की व्याख्या इस मंत्र में कर दी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काली कराली च मनोजवा च
सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी
लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥४॥

अर्थ—अग्नि की लपटों के सात रंग हैं–(१) काली, (२) कराली, (३) मनोजवा, (४) सुलोहिता, (५) सुधूम्रवर्णा (६) स्फुलिगिनी, (७) विश्वरुचि। ये लपटों के रंग हैं। ये अग्नि की सात जिह्वा कही जाती हैं।

यह कहा है कि यज्ञ करने वाला इन रंगों वाली अग्नि की जिह्वाओं को आहुति दे।

हवन करते समय किसी ने अग्नि की लपटों के ये सात रंग देखे हैं अथवा नहीं, कहा नहीं जा सकता, परन्तु किसी व्यवसाय में अथवा उद्योग में प्रयुक्त होने वाले परिश्रम में तो सात रंग स्पष्ट दिखाई देते हैं। वे इस प्रकार हैं। काली से अभिप्राय है जो दिखाई न दे। यह किसी व्यवसाय अथवा उद्योग में लगी पूँजी होती है। भवन, मशीन इत्यादि साधनों अथवा बिक्री करने वाले माल में यह विलुप्त हो जाती है। पूँजी भी किसी के परिश्रम का ही रूप होती है और वह दिखाई न देने के कारण 'काली' है।

अग्नि का दूसरा रंग कराली कहा है। कराली का अर्थ है तलवार। व्यवसाय की तेज धार बुद्धि के प्रयोग की सूचक है। अतः कराली से अभिप्राय है वह बुद्धि जो व्यवसाय अथवा उद्योग की योजना बनाती है। अग्नि की तीसरी जिह्वा कही है—मनोजवा। इसका अभिप्राय है मन की ऊर्जा शक्ति। यह व्यवसाय अथवा उद्योग के स्वामी की ओर से परिश्रम का नाम है। स्वामी पूरे मन से कार्य करे तो वह अग्नि की इस जिह्वा को आहुति दे रहा माना जायेगा।

चौथी जिह्वा है सुलोहिता। इसको लाल वर्ण कहा है। यह उस ऊर्जा का नाम है जो उद्योग चलाने के लिए प्रयोग की जाती है। अथवा यह उच्च श्रेणी के कर्मचारियों का परिश्रम भी कहा जा सकता है जो व्यवसाय अथवा उद्योग में अपना परिश्रम व्यय कर रहे होते हैं। पाँचवी अग्नि का नाम बताया है सुधूम्रवर्णा। ये निम्न कोटि के कर्मचारियों (unskilled labour) के परिश्रम का नाम है। इसे सुधूम्रवर्णा कहा है क्योंकि ये कर्मचारी प्रायः असन्तोष से भरे रहते हैं। अशिक्षित होने के कारण ये कम वेतन पाने वाले होते हैं और अपने कम वेतन की तुलना योग्यों के वेतन से कर ईर्ष्या में जलते हैं। इस कारण इनके परिश्रम को सुधूम्रवर्णा कहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अग्नि की छटी जिह्वा का नाम बताया है स्फुलिंगिनी। ये बिक्री की व्यवस्था करने वाले प्रबंधक, प्रतिनिधि हैं। व्यवसाय अथवा उद्योग की चिनगारियों की भाँति ये इन्हें दूर-दूर ले जाते दिखाई देते हैं सातवीं ज्वाला है विश्वरुचि अर्थात् माल खरीदने वालों की रुचि। ये सात जिह्वाएँ व्यवसाय अथवा उद्योग की कही हैं। किसी व्यवसाय अथवा उद्योग में ये सात परिश्रम स्पष्ट दिखाई देते हैं।

इन जिह्वाओं की गणना से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ यज्ञ का वर्णन किसी भी व्यवसाय अथवा उद्योग का हीं वर्णन हो सकता है।

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु
यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो
यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥५॥

अर्थ—जो व्यक्ति इन चमकने वाली जिह्वाओं में उचित समय पर आहुतियाँ देता है, वह सूर्य की किरणों से वहाँ ले जाया जाता है जहाँ देवताओं का (अर्थात् विद्वानों का) स्वामी (परमात्मा) रहता है।

उपनिषद्कार का कहना है कि जो व्यक्ति इन सात अग्नियों में उचित समय पर आहुति देता रहता है अर्थात् इनको प्रसन्न रखता है, वह अपने कर्म में सफल होता है और उसका काम उत्तरोत्तर उन्नति करता रहता है।

बात स्पष्ट ही है। किसी व्यवसाय में ऊपर गिनाये सात माध्यम ही हैं, जो उसे चलाने की क्षमता रखते हैं। स्वामी को चाहिए कि इन सातों को उचित समय पर संतुष्ट करता रहे।

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः
सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य
एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥६॥

अर्थ—इस यज्ञ में दी हुई ये दीप्तिमान् आहुतियाँ सूर्य की रश्मियों के द्वारा यजमान को ले जाती हैं। भले कार्यों से प्राप्त होने वाले ब्रह्म लोक को ले जाती हुईं ऐसी मीठी वाणी कहती हैं मानो वे कह रही हैं कि यह तुम्हारे सुकृतों का फल है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस कथन को अलंकार के रूप में ही समझना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि प्रायः सबके सब भाष्यकारों ने उपनिषद् के इन मंत्रों का अर्थ अग्निहोत्र के सन्दर्भ में किया है। इन मंत्रों में एक स्थान पर अग्निहोत्र शब्द भी आता है। परन्तु हमारा मत है कि उपनिषद् में यह सब कुछ एक अलंकार के रूप में है। इसका भाव जो हमने वर्णन किया है वह अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। यजुर्वेद के मंत्र संख्या १-५ से २-२८ में कहे कर्म जब सर्वहिताय किये जाते हैं तो यज्ञ कहाते हैं। साथ ही उसी वेद में मंत्र १-५ से लेकर जो २-२८ तक कहा है, वह सब एक लम्बा जीवन-कार्य ही है और उसमें जीवनयापन के कार्यों का ही वर्णन है। इस कारण इन उपनिषद्-मंत्रों से भी वैसा ही अभिप्राय लेना चाहिए।

प्रश्न उपस्थित होता है कि द्वापर तथा कलियुग के भाष्यकारों के मस्तिष्क में अग्नि जलाकर घी की आहुतियाँ देने और उनके साथ सम्बन्धित अथवा असम्बन्धित वेद मंत्र कहने की प्रथा कैसे और किस प्रकार चल गयी ? इसमें हम समझते हैं कि दोष उन पुरोहितों का है जो अनपढ़ यजमानों से धन बटोरने का उपाय विचार करते रहे हैं।

ब्राह्मणों में यह चलन महाभारत काल से पहले ही शुरू हो गया था। राजसूय यज्ञ के समय की एक घटना से यही सिद्ध होता है कि उस समय सामान्य ब्राह्मण तर्क करने का स्वभाव भूल चुका था। यज्ञ में जब श्री कृष्ण ने शिशुपाल का वध किया तो ब्राह्मण उठ-उठकर जाने लगे और वह सभा नहीं हो सकी, जिसके लिए श्री कृष्ण को सभापति बनाया गया था। ब्राह्मण लोग झोलियाँ भर-भर दक्षिणा लेते जा रहे थे और मुख से कहते जा रहे थे कि यज्ञ निष्फल हुआ है।

इसी प्रकार की एक अन्य मूर्खतापूर्ण घटना उस समय हुई थी जब श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र को समझाने आये थे कि पाण्डवों को उनका राज्य वापिस मिल जाना चाहिए। दुर्योधन ने कृष्ण की बात अस्वीकार कर दी। इस पर श्रीकृष्ण ने द्रोणाचार्य को कहा कि उस जैसे विद्वान को तो अधर्म का पक्ष नहीं लेना चाहिए। तब द्रोणाचार्य ने कहा था कि वह दुर्योधन का वेतनधारी सेवक है। वह उसके विरुद्ध नहीं लड़ सकता। एक ब्राह्मण का किसी राजा के लिए सेवा-कार्य करना शूद्र कार्य तुल्य है। महाभारत में ही महर्षि व्यास ने कहा है कि जो ब्राह्मण किसी राजा की सेवा स्वीकार कर ले वह शूद्र हो जाता है। उसे ब्राह्मणों को पंक्ति में नहीं बैठने देना चाहिये।

एकलव्य की घटना भी उल्लेखनीय है। द्रोणाचार्य ने छल से उसे अपनी विद्या के प्रयोग के अयोग्य बना दिया था। अन्य भी कई उदाहरण ऐसे मिलते हैं जिनसे यह पता चलता है कि उस समय ब्राह्मणों का ह्रास हो चुका था। साथ ही ब्राह्मण का बेटा ब्राह्मण माना जाने लगा था। गुण कर्म की बात नहीं रही थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही कारण है कि अयोग्य ब्राह्मण वेद जैसे गूढ़ अर्थ वाले ग्रन्थों को समझने की सामर्थ्य नहीं रखते थे। वेद को समझने की सामर्थ्य विलुप्त हुई तो फिर यज्ञ होने लगे और जीवन सम्बन्धी कर्मों के स्थान समिधा जला-जलाकर घी तथा सामग्री की आहुतियाँ दी जाने लगीं। इनके साथ मंत्र उच्चारण किये जाने लगे।

हमारा यह अभिप्राय नहीं कि हवन नहीं होने चाहिएँ। ये किये जा सकते हैं, परन्तु इनका फल दूसरा है और ज्ञान अर्जन का फल दूसरा है।

वेद साँसारिक ज्ञान के ग्रन्थ हैं। संसार में पृथिवी से परमात्मा तक सब कुछ आ जाता है। उनका ज्ञान लाभ करना पृथक् है। हवन-यज्ञ से ज्ञान वृद्धि नहीं होती। अतएव हवन-यज्ञ का अभिप्राय वेदाध्ययन कें प्रयोजन से भिन्न है। यज्ञ जिसमें हवन सामग्री फूँकी जाती है उसका फल ज्ञान अर्जन नहीं है। न ही उससे सुकृत कर्मों की प्रेरणा मिलती है।

इस मंत्र में लिखा है कि यज्ञ कर्म की लपटें जब उठती हैं तो सूर्य की किरणों के आश्रय यज्ञकर्ता को देवताओं के स्वामी परमात्मा के धाम में ले जाती हुई मीठी वाणी में कहती हैं कि तुम्हारे सुकृत तुम्हें बैकुण्ठ धाम को ले जा रहे हैं। हवन-यज्ञ ज्ञानार्जन का साधन नहीं है और बिना ज्ञान के सुकृत होते समझे नहीं जा सकते। यही बात उपनिषद् के अगले मंत्र में कही है।

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥७॥

अर्थ—जिनमें अठारह प्रकार के निम्न कोटि के यज्ञरूप कर्म किये जाते हैं, वे वृद्धता तथा मरण-जन्म से बचा नहीं सकते। उनको मूर्ख लोग करते हुए प्रसन्न होते हैं।

इस मंत्र का अर्थ भाष्यकारों ने यह किया है कि जो कुछ ऊपर के मंत्रों में कहा है कि वह मोक्ष दिलाने में योग्य नहीं है। अर्थात् जो वहाँ कहा है कि सूर्य किरणें जो जीवात्मा को ब्रह्मलोक को ले जाती हुए कहती हैं कि ये उसके सुकृत कर्म ही उसे ब्रह्मलोक को ले जा रहे हैं, वह अशुद्ध कहा गया है। वे जीवात्मा को ब्रह्मलोक को नहीं ले जातीं, वरन् कहीं बीच में ही अटका रखती हैं।

हम समझते हैं कि यह अर्थ अशुद्ध है। जो कुछ पूर्व के मंत्रों में कहा है, वह सर्वथा सत्य है। परन्तु उनमें यज्ञों का अभिप्राय इन अठारह प्रकार के यज्ञों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है। पूर्व में कहीं भी यज्ञों की गणना नहीं करायी गयी। अठारह तो दूर रहा एक दो प्रकार के भी यज्ञ नहीं कहे गये। इसी कारण हमरा मत है कि यज्ञ से अभिप्राय गृहस्थ तथा व्यवसायादि है। वे अठारह प्रकार के नहीं हैं। वेद में तो कहा है कि—

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम् ॥
(यजुः० १-३)

अर्थात्...यज्ञ सैकड़ों और सहस्रों प्रकार के हैं।

वास्तव में मनुष्य के प्रत्येक कार्य को यज्ञ का रूप दिया जा सकता है। उसमें यजुर्वेद में ही लिखा है।—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ (यजुः०—४०-२)

अर्थात्—इस जगत् में कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो। इस प्रकार मनुष्य होने के नाते तुम कर्म में लिप्त न होवो।

अभिप्राय यह है कि अनासक्त भाव से सौ वर्ष तक कर्म करो। सैकड़ों-सहस्रों यज्ञों से यही अभिप्राय है। इन्हीं कर्मों का उल्लेख इस उपनिषद् में है। किसी प्रकार के अठारह यज्ञों का नहीं।

हमारा निश्चित मत है कि ये अठारह यज्ञ वे हैं जो प्रायः ब्राह्मण ग्रन्थों में और गृहसूत्रों में वर्णित हैं। इस उपनिषद् में तो जीवन के कर्मों के विषय में ही कहा गया है। यह कहा है कि जब व्यवसाय की लपटें उठने लगें तो उन लपटों की सात प्रकार की जिह्वाओं में आहुति दें, तब ब्रह्मलोक मिलता है। यह अग्नि में घी डालने से नहीं होगा। न ही वेद मंत्रों के पाठ मात्र से होगा। वेद मंत्रों का अर्थ समझ, उन पर आचरण करने से फल मिलता है और उपनिषद् में आचरण की बात ही कही है।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥८॥
अविद्यायां बहुधा वर्तमाना
वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागा-
त्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥६॥

अर्थ—अविद्या में व्यवहार करने वाले अपने को धीर और पण्डित मानने वाले मूर्ख नाश होने वाले ऐसे घूमते हैं जैसे अन्धा अन्धे से ले जाया जा रहा हो। प्रायः अविद्या में ही रहने वाले और अपने को कृतार्थ मानने वाले बाल-बुद्धि अपने सांसारिक कामों में इतने लीन हो जाते हैं कि वे अपने कर्म को ही नहीं जान पाते कि वे क्या कर रहे हैं। वे नीचे को ही गिरते हैं।

अविद्या का अभिप्राय हम बता चुके हैं। इससे अभिप्राय है उन वस्तुओं का ज्ञान, जो नाश होने वाली हैं। इनसे निर्मित जगत् के पदार्थ हैं। जो (केवल) इनमें ही रत रहते हैं, ऐसे ज्ञान में लीन रहने वाले अपने को धीर और विद्वान् मानने लगते हैं, वे नाश होने की ओर जाने लगते हैं। वे मूर्ख ऐसे विचरते हैं जैसे कोई अन्धा, अन्धे से ले जाया जाता है। उपनिषद्कार का कहना है कि केवल सांसारिक पदार्थों की विद्या में ही रत रहने वाला अन्धे का अन्धे से ले जाये जाने के तुल्य है।

बिना संसार में रहते हुए तो कुछ हो नहीं सकता। इस कारण उपनिषद् का अभिप्राय यह ही है कि केवल सांसारिक पदार्थों के ज्ञान से जीवन का परम ध्येय सिद्ध नहीं हो सकता। वेद में भी (यजुः० —४०-१४ में) यही कहा है कि केवल विद्या से पार नहीं पाया जा सकता। इस कारण विद्या-अविद्या दोनों का ज्ञान होना चाहिये। इसी अभिप्राय का उपनिषद् का अगला मंत्र है। इसमें कहा है कि जो बहुधा अविद्याओं में ही विचरते हैं, और फिर अपने को कृत कृत्य मानते हैं, वे बाल बुद्धि नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं।

यहाँ बहुधा शब्द का अर्थ बहुत प्रकार से भी हो सकता है। अभिप्राय यही है कि जो केवल अविद्या में ही विचरते हैं। अर्थात् उन पदार्थों की विद्या में ही लीन रहते हैं, जो नाशमान् हैं। यही वेद मंत्र का आशय है।

यजुर्वेद का एक मंत्र है—

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते।

साथ ही इस मंत्र में यह भी कह दिया है—

ततो भूयऽइव ते तमो याऽउ विद्याया ँ रताः॥ (यजु० ४०-१२)

इसका अर्थ है कि जो विद्या में रत रहते हैं वे अन्धकार को जाते हैं और जो अविद्या में रत रहते हैं वे भी अन्धकार में विचरते हैं।

व्यवहार में भी यही समझ में आता है कि संसार में व्यवहार किये बिना तो जीवन ही नहीं चलता तो फिर जो मोक्ष प्राप्त करने की पहली शर्त है ज्ञान प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना, वह भी नहीं हो सकेगा। यह संसार ही है जिसमें रहते हुए मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है और फिर संसार से निर्लिप्त भाव प्राप्त किया जा सकता है।

उपनिषद्कार का अभिप्राय यही है कि केवल अविद्या में विचरने वाले पतन के मार्ग पर जाते हैं।

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥ १० ॥

अर्थ—अपनी इच्छाओं की पूर्ति को बहुत बड़ी बात मानने वाले और उस लक्ष्य से दूसरी किसी बात को भी ठीक न मानने वाले मूर्ख लोग श्रेष्ठ कार्यों की पीठ को ही छू पाते हैं और समझते हैं कि उन्होंने सुकृत कर लिये हैं। ऐसे लोग हीन लोकों को प्राप्त होते हैं।

इस मंत्र में शब्द है 'इष्टापूर्त'। इसका अर्थ भाष्यकार करते हैं यज्ञ-यागादि कर्म की पूर्ति। यह ठीक है, परन्तु यज्ञ यागादि से अभिप्राय उन यज्ञों से है जिनका उल्लेख उपनिषदकार ने मंत्र सात में किया है। इनमें, जैसा हमने बताया है कि ये अठारह वे यज्ञ यागादिक हैं जिनका उल्लेख गृह्य सूत्रों में है। वेद में यज्ञ से अभिप्राय है—सब प्रकार के कर्म, जो निष्काम भाव से किये जायें। इस पर भी हमारा कहना है कि इष्ट का अर्थ है उद्देश्य अर्थात् इच्छित कर्म जो हीन हो। संसार में कुछ प्राप्त करने के लिए जो कर्म किये जाते हैं, वे कर्म 'इष्ट पूर्ति' के निमित समझे जाते हैं। केवल सांसारिक उपलब्धियों के लिये कर्मों को करके अपने को कृत कृत्य मानने वाले मूर्ख माने जाने चाहिएँ। सांसारिक उपलब्धियाँ जीवन का उद्देश्य नहीं। संसार केवल माध्यम है आत्मोन्नति करने का। यह लक्ष्य नहीं। इस कारण ही कहा है कि अपने कार्य के सांसारिक उद्देश्य की पूर्ति से ही गद्-गद् प्रसन्न होने वाले मूर्ख माने जाने चाहिएँ।

इस मंत्र में एक शब्द है नाकस्य। नाक आकाश को कहते हैं। इसका अर्थ स्वर्ग भी किया जाता है। यहाँ अभिप्राय आकाश अर्थात् ऊँचे उठने का अर्थात् श्रेष्ठ कार्य मानना चाहिये। अच्छे कार्यों की पीठ छू लेने का अभिप्राय है अच्छे कार्यों में नाम लिखा होना। उनके करने में किसी प्रकार का प्रयत्न न करना, परन्तु श्रेष्ठ कार्यों में नाम लिखा कर शोभा लेना, उन कार्यों की पीठ छू लेने के समान माना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका अर्थ यह भी है कि भले कार्यों को केवल आशीर्वाद दे देना। उसमें सक्रिय भाग न लेना।

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा।। ११ ।।

अर्थ—वे लोग जो तपस्वी, श्रद्धापूर्वक काम करने वाले, शान्त-चित्त और भीड़-भाड़ से दूर रहने वाले हैं, तथा जो जीवन-यापन को भिक्षा समान समझने वाले हैं वे सूर्य द्वार से वहाँ पहुँचते हैं, जहाँ श्रेष्ठ आत्माएँ रहती हैं।

अविद्या में ही विचरने वालों तथा किसी लक्ष्य को ही लेकर संसार में सफलता प्राप्त कर अपने को कृत-कृत्त मानने वालों के विषय में बताकर अब उपनिषद्-कार यह बता रहा है कि भले कार्य करने वाला और श्रेष्ठ आत्माओं में स्थान पाने वाला कौन व्यक्ति है। कहा है कि जो तपस्वी है अर्थात् अपने कार्य की सिद्धि में परिश्रम करने वाला है और अपने कार्य में श्रद्धा से जुत जाने वाला है। यहां यह समझ लेना चाहिये कि श्रद्धा का अर्थ अविचलित हठ नहीं। कार्य का लक्ष्य बुद्धि से निश्चय कर उस पर दृढ़ संकल्प लग जाने को श्रद्धा कहते हैं। यहां यह अभि-प्राय नहीं कि 'एक ने कही और दूसरे ने मानी, दोनों भये ब्रह्मज्ञानी'। श्रद्धा का अभिप्राय है कि बुद्धि से विचार की हुई बात को दृढ़ संकल्प से करना।

इस मंत्र में एक शब्द 'भैक्ष्यचर्या चरन्तः' है। इसका अर्थ प्रायः भाष्यकारों ने भिक्षावृत्ति किया है। यह अर्थ अशुद्ध है। इसका अर्थ है कि जीवन में जो कुछ भी उपार्जन हो, वह ऐसा ही माने कि उसे भिक्षा मिली है। इस संसार में सब कुछ परमात्मा का है। यहां तक कि परिश्रम भी, जो मनुष्य करता है, वह भी परमात्मा से दी गयी ऊर्जा से सम्पन्न होता है।

अभिप्राय यह है कि जो कुछ भी मनुष्य को इस लोक में प्राप्त है वह ईश्वर-कृपा का ही फल है। परमात्मा का ही दिया हुआ है। इक कारण जो मनुष्य संसार में रहता हुआ यह मानता है कि वह परमात्मा की दान-दक्षिणा से ही जी रहा है, वह 'भैक्ष्यचर्या चरन्तः' कहा जायेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।। १२ ।।

अर्थ—कर्मों वाले लोकों की परीक्षा करके विद्वान् व्यक्ति इससे उदासीन हो जाता है। संसार में सब बने हुए पदार्थ हैं। अकृत (अनादि नित्य पदार्थ नहीं) हैं। बने हुए पदार्थों से हमारा कुछ भी प्रयोजन नहीं। इस कारण मनुष्य को ज्ञान प्राप्त करने के लिये ऐसे गुरु के पास हाथ में कुछ भेंट लेकर जाना चाहिये, जो वेद का ज्ञाता और परमात्मा में विश्वास रखने वाला हो।

इस संसार के भोगों से कुछ भी स्थाई प्राप्त होने वाला नहीं है। जब इस नाशवान् संसार के पदार्थों की परीक्षा की जाती है तो विद्वान् मनुष्य उन सबको निरर्थक पाता है। इस कारण उसको यथार्थ जानने योग्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये किसी श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् के पास जाना चाहिये। जाते हुए हाथ में कुछ भेंट-स्वरूप लेकर जाना चाहिये। श्रोत्रिय का अर्थ वेद का ज्ञाता है और ब्रह्मनिष्ठ का अर्थ है परमात्मा में विश्वास रखने वाला।

परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इन निर्मित पदार्थों को छोड़कर परमात्मा का ज्ञान प्राप्त हो सकेगा? क्या इस संसार का त्याग करने के बाद ज्ञान प्राप्त करने का सामर्थ्य रह सकेगा? एक ही उत्तर है कि मोक्ष प्राप्त करने के लिये भी इस संसार के पदार्थों का सहाय आवश्यक है।

यदि यह बात है तो उपनिषद्कार का इस तथा इससे ऊपर के मंत्रों का क्या अभिप्राप्य है? उपनिषद्कार भी तो अन्न खाता ही होगा? वस्त्र, मकान तथा जलवायु का सेवन करता होगा। तो फिर उसने जो शब्द 'कृतेन' लिखा है उसका क्या अभिप्राय है? भाष्यकार उस शब्द का अर्थ करते हैं कि इस निर्मित संसार के पदार्थों से हमें क्या लेना-देना है?

हम समझते हैं कि उपनिषद्कार का यह अभिप्राय नहीं है। वह कह रहा है कि इस संसार के पदार्थों में लिप्त होने से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। संसार में आने के प्रयोजन में संशोधन करना मात्र है। इसका भोग तो करना ही होगा अन्यथा यह जीवन भी नहीं रह सकेगा। सांसारिक अभ्युदय को लक्ष्य मानना अनुचित है। फिर यदि वह संसार छोड़ेगा तो श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ को ढूंढने कहां जायेगा?

उपनिषद्कार के कथन का अभिप्राय यह है कि मनुष्य जीवन का प्रयोजन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस संसार का भोग मात्र नहीं है। भोग तो करना ही होगा, परन्तु भोग करते हुए जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिये किसी वेद के ज्ञानी और परमात्मा में विश्वास रखने वाले के पास जाकर जीवन के उद्देश्य का ज्ञान प्राप्त करना होगा और फिर उस उद्देश्य की प्राप्ति का उपाय करना होगा। कुछ भी उपाय हो, वह इस संसार में ज़ीवनयापन किये बिना सम्भव नहीं।

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्य-
क्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥ १३ ॥

अर्थ—वह (गुरु) उस शान्त चित्त और जितेन्द्रिय शिष्य को ऐसी ब्रह्म विद्या का उपदेश करे जिससे उसे अक्षर पुरुष, जो सत्य है, का ज्ञान हो सके।

ब्रह्म तीन हैं। अक्षर अर्थात् अनादि पदार्थ तीन हैं। तीनों को ब्रह्म कहते हैं। इस कारण इन तीनों का ज्ञान ब्रह्म विद्या है। इसकी ओर उपनिषद्कार का लक्ष्य है।

द्वितीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥ १ ॥

अर्थ—वह सत्य है। जिस प्रकार अति अग्नि प्रदीप्त से उसी के रूप वाली चिंगारियां उठती हैं, उसी प्रकार उस अक्षर से अनेक प्रकार की वस्तुएं उत्पन्न होती हैं। हे सौम्य !

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी भाव को उपनिषद्कार लगभग इन्हीं शब्दों में (मु० १-१-७,८) में कह चुका है। वहां उसने बताया है कि एक अक्षर है, 'तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।' अर्थात् उसी अक्षर से यह सब कुछ प्रकट हुआ। ब्रह्मा के तप और ज्ञान से अन्न, प्राण, मन और सत्य लोक एवं क्रम में से अमृत उत्पन्न हुआ।

यहां दूसरे मुण्डक में इसकी उत्पत्ति व्याख्या से कहने के लिये उसी बात को दुहराया गया है। कहा है कि उस अक्षर से ऐसे चिंगारियां उठती हैं जैसे अत्यन्त तेज अग्नि से चिंगारियां उठती हैं। संसार के अनेकानेक पदार्थ चिंगारियों के रूप में उस अक्षर से उत्पन्न हो रहे हैं।

हम वेद-मंत्र (ऋ० १-१६४-२०,१) के प्रमाण से बता चुके हैं कि अक्षर तीन हैं। तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि जगत् के पदार्थ किस अक्षर से बने हैं? मुण्डक उपनिषद्कार ने एक अक्षर के रूप का वर्णन किया है (मु० १-१-६)। उसको ही सांख्य दर्शन वाला प्रकृति कहता है तथा इसी प्रकृति के अंतिम परिणाम को स्थूल भूत कहा है। और मु० १-१-६ में उसको कहा है, 'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः', अर्थात् वह अक्षर पंच महाभूतों का उद्गम स्थान है। ऐसा बुद्धिमान मानते हैं।

अतएव उपनिषद्कार ने जिस अक्षर का (मु० २-१-१ में) उल्लेख किया है वह प्रकृति ही है। इस मंत्र में कहा है कि इस अक्षर में से चिंगारियों की भांति अनेकानेक भाव (संसार के पदार्थ) उत्पन्न हुए हैं।

साथ ही यह कहा है कि ये पदार्थ उसी के रूप वाले हैं जिस रूप वाला वह अक्षर पदार्थ है। ठीक इसी भाव का वर्णन, एक अन्य उपनिषद् में इस प्रकार किया गया है।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपा॥

(श्वे० ४-५)

अर्थ—एक अजा अर्थात् अनादि पदार्थ है, वह तीन रूपों वाला है लोहित, शुक्ल और कृष्ण। वह अपने ही रूप वाली प्रजाएं उत्पन्न करता है।

यहां इस मुण्डक उपनिषद् में भी यही कहा है कि वह अक्षर है जो अपने ही रूप वाले अनेक भाव (पदार्थ) बनाता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के इसी मंत्र में आगे लिखा है—

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

(श्वे ४-५)

इसका अभिप्राय है कि एक अन्य अजन्मा है जो भोग में रत रहता है। एक अन्य है जो भोग से पृथक् है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिप्राय यह कि इस संसार में तीन अक्षर पदार्थ हैं। प्रकृति है, दूसरे असंख्य जीवात्माएं हैं, तीसरा परमात्मा है। मुण्डक उपनिषद् के इस मंत्र में प्रकृति के विषय में लिखा है और कहा है कि जैसे अत्यन्त तीव्रता से जल रही अग्नि से चिंगारियां निकलती हैं, वैसे ही उस प्रकृति से अनेकानेक पदार्थ बनते हैं और प्रलय के समय उसी में लय हो जाते हैं।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः।। २ ।।

अर्थ—(एक अन्य अक्षर है) वह निश्चय ही दिव्य, अमूर्त, पुरुष बाहर भीतर विद्यमान, अजन्मा, अप्राण (अचलायमान), मन-हीन, विशुद्ध और श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ है।

यह परमात्मा के गुणों का वर्णन है। इस विषय में हम मु० १-१-५ की टिप्पणी में एक वेद-मंत्र का प्रमाण दे चुके हैं। उस मंत्र में परमात्मा के गुण बताये हैं। वहां इससे कुछ अधिक ही बताया है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि उपनिषद् का यह मंत्र भी वेदानुसार ही है। अतः यह एक अन्य अक्षर का वर्णन है। यह उसका वर्णन नहीं है जिसका इस मुण्डक के प्रथम खण्ड के प्रथम मंत्र में वर्णन किया है। वहां कहा है कि तीव्र अग्नि से निकलने वाली चिंगारियों की भांति उसमें से अनेक भाव अर्थात् पदार्थ बनते हैं और फिर उसमें ही विलीन हो जाते हैं। साथ ही कहा है कि वे चिंगारियां उस स्वरूप वाली ही हैं।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी।। ३ ।।

अर्थ—इस (अक्षर पुरुष) से प्राण, मनः, सब इन्द्रियां, आकाश, वायु, तेज, जल और सबको धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न होती है।

इस मंत्र और पूर्व के मंत्र में कुछ एक बातें समझने की हैं। एक तो यह कि ऊपर के मंत्र में कहा है कि अक्षर अप्राण और अमन वाला है और यहां कहा है कि वह प्राण और मन को उत्पन्न करता है। यह ठीक ही कहा है। ऊपर के मंत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में अप्राण का अर्थ है कि वह हिलता-डोलता नहीं। यह इस कारण कि सर्वव्यापक होने से कोई ऐसा स्थान नहीं, जहां उसको जाना हो। इस कारण उसको हिलने-डोलने को स्थान नहीं है। वह सब स्थान पर पहले ही पहुंचा हुआ है। वह सर्वव्यापक है। यजुर्वेद में इसी बात को स्पष्ट करने के लिए कहा है (यजु० ४०-४) कि वह अचल है, वह मन की गति से भी शीघ्र चलने वाला है। इससे यह स्पष्ट है कि यह स्वयं अचल है। इसी प्रकार यह कहा है कि यह अमना है और यहां कहा है कि इससे मन उत्पन्न होता है।

यह मन नहीं, यह चलायमान नहीं, परन्तु चलायमान प्राण उत्पन्न करने वाला अक्षर है। अर्थात् यह अपने स्वरूप से भिन्न वस्तुएं उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखता है। इस कारण यह उस अक्षर से भिन्न है जो अपने ही स्वरूप वाले भाव उत्पन्न करने वाला है।

अक्षर तीन प्रकार के हैं। मुण्डक उपनिषद् कहने वाला भी अक्षर तीन प्रकार के मानता है। वह अक्षर जो इस उपनिषद् के द्वितीय मुण्डक के प्रथम मंत्र में वर्णन किया है, वह दूसरे और तीसरे मंत्र में वर्णन किये अक्षर से भिन्न है।

एक अन्य बात समझने की यह है कि जैसे यह अक्षर मन नहीं परन्तु मन उत्पन्न करता है, इसी प्रकार यह अक्षर न तो आकाश है, न ही वायु, न ही आपः और न हीं पृथिवी है: परन्तु यह इनको उत्पन्न करता है। इसमें युक्ति यह है कि वायु, आकाश, जल और पृथिवी इस अक्षर का स्वरूप नहीं रखते। इनका स्वरूप उस अक्षर का-सा है जिसका वर्णन इसी मुण्डक के मंत्र एक में वर्णन किया है। संसार के विविध पदार्थ उस अक्षर में से ही उत्पन्न हुए हैं। उदाहरण के रूप में पृथिवी है। इसका एक ढेला लेकर आप अपनी मेज पर रख लें। वर्षों तक पड़ा रहने पर भी न तो वह स्वयं हिले-डोलेगा और न ही वह किसी अन्य पदार्थ को जो उसके सम्पर्क में है, हिला सकेगा। यह ढेला मन की गति से तीव्र गति से हिलने-डोलने वाला भी नहीं है, न ही यह मेज को और न मेज पर रखे किसी अन्य पदार्थ को एक मिलीमीटर भी हिला सकता है।

परमात्मा के और भी गुण हैं। वह यह कि अक्षर सबके भीतर और बाहर है। पृथिवी का ढेला मेज पर तो है परन्तु मेज के भीतर नहीं है। यह उस वायु के भीतर भी नहीं है जो उस कमरे में है जिसमें मेज पड़ी है।

एक बात और है। मंत्र २ में यह कहा है कि वह अक्षर परे से भी परे है। अर्थात् कम-से-कम दो अक्षर तो हैं। एक परे और दूसरा उससे भी परे है।

इस प्रकार हमारा मत है कि मुण्डक उपनिषद् में भी अक्षर तीन ही माने गये हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ ४ ॥

अर्थ—अग्नि जिसका मस्तक है, चन्द्र और सूर्य जिसके नेत्र हैं, दिशाएं जिसके कर्ण हैं, जिसकी प्रसिद्ध वाणी है, वायु प्राण है, सारा विश्व जिसका हृदय है और जिसके चरणों में पृथिवी है, वह देव सब भूतों का अन्तरात्मा है।

यह ब्रह्मा से रचित जगत् का वर्णन है। इसमें अग्नि है। अग्नि का अभिप्राय है वह आदि शक्ति जिसने सृष्टि रचना आरम्भ की थी। ऋग्वेद में कहा है—

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमम् ॥
(१-१-१)

इसका अभिप्राय है कि अग्नि सृष्टि-रचना से पूर्व ही संसार का हित चाहने वाली यहां थी। ऋत्विज् की भांति वह रचना यज्ञ कर रही थी। और इसने संसार के सब अद्भुत पदार्थ हमको दिये हैं। उपनिषद् का अभिप्राय इस अग्नि से ही है। क्योंकि यह पहले थी, इस कारण इसे मूर्धा कहा है। सूर्य और चन्द्र को इस रचित सृष्टि के नेत्र कहा है। जैसे नेत्र वस्तुओं को देखने में सहायक होते हैं इसी प्रकार सूर्य और चन्द्र अपने प्रकाश से संसार के सब पदार्थों को देखने में सहायक हो रहे हैं। कान जैसे चारों ओर शब्द सुनने में सहायक होते हैं, वैसे ही जगत् की दिशाएं जगत् का ज्ञान कराती हैं। मनुष्य की वाणी उसके ज्ञान को प्रकट करती है। इसी प्रकार इस जगत् का ज्ञान वेद से होता है। प्राण उस शक्ति को कहते हैं जिससे सृष्टि के पदार्थ हिलते-डोलते हैं। इस कारण इसे संसार का हृदय कहा जा सकता है। वायु गति अर्थ में प्रयुक्त हुई है और उसे ही जगत् प्राण कहा है। पृथिवी से अभिप्राय इस जगत् में उपस्थित पार्थिव पदार्थ हैं। अर्थात् इस जगत् में जो कुछ भी ठोस पदार्थ हैं, वे इसका आधार हैं। वस्तुतः ब्रह्माण की रूपरेखा इसके ठोस पदार्थ ही हैं। और कहा है कि इन सब भूतों का आत्मा वही है, जो ऊपर के मंत्रों में कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि पूर्ण जगत् जो प्रकृति अक्षर से उत्पन्न हुआ है उस सबका आत्मा वह परमात्मा है जिसके विषय में इसी मुण्डक के प्रथम खण्ड के मंत्र दो और तीन में कहा है। आत्मा का अभिप्राय है चेतन तत्त्व। इस सब जगत् में चेतन सत्ता परमात्मा ही है। चेतन ही इस पूर्ण जगत् की रचना का पालन और प्रलय करने वाला है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः
सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् ।
पुमान्रेतः सिञ्चति योषितायां
बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः ।। ५ ।।

अर्थ—उस अक्षर (परमात्मा) से ही वह अग्नि उत्पन्न होती है जो सूर्य में समिधा बनकर अग्नि की भांति जलती है। उसी अक्षर से सोम से पर्जन्य और पृथिवी पर औषधियां उत्पन्न होती है। उसी अक्षर से पुरुषों में वीर्य उत्पन्न होता है जो स्त्रियों में सींचा जाने पर बहुत प्रजाएं उत्पन्न करता है।

पूर्व के मंत्र में यह बताया है कि पूर्ण विश्व में बैठा एक आत्मा है। इस मंत्र में उस आत्मा के विशेष कार्यों का वर्णन किया है। कहा है कि उस परमात्मा की अग्नि सूर्य में ऊष्मा और प्रकाश ऐसे ही उत्पन्न कर रही है जैसे समिधा जलने पर उत्पन्न होती है। उसी परमात्मा से सोम तथा पर्जन्य उत्पन्न होते हैं।

सोम का अर्थ कुछ भाष्यकार जल करते हैं। कुछ अन्य हैं जो इसे एक प्रकार की वनस्पति समझते हैं। हम समझते हैं कि सोम परमात्मा की वह शक्ति है जो संसार के सुन्दर तथा सुखकारक पदार्थ उत्पन्न करती है। एक वेद मंत्र है·

यास्ते प्रजा अमृतस्य परस्मिन् धामन्नृतस्य ।
मूर्धा नाभा सोम वेन आभूपन्तीः सोम वेदः ।।

(ऋ० १-४३-९)

अर्थात्—जो तेरे अमृत ऋतों के सर्वोत्तम धाम में तेरी प्रजाएं हैं, हे कमनीय सोम ! मस्तिष्क के केन्द्रीय स्थान में आभूषित करती हुई को तुम जानो।

ऋत परमात्मा के नियम होते हैं। उनको सोम जानो। इसका अभिप्राय यह है कि सोम परमात्मा की शक्ति ऋत है। इनको जानकर उनका पालन करो।

इसी प्रकार सैकड़ों मंत्र वेदों में से दिये जा सकते हैं जिनसे यही पता चलता है कि सोम परमात्मा की वह शक्ति है जिसे संसार के स्वादिष्ट, सुखकारक और सुन्दर पदार्थ बनते हैं।

उस सोम से पर्जन्य बनते हैं और उससे वनस्पतियां तथा वीर्य उत्पन्न होता है और जिसके सिंचन से स्त्रियों में सन्तान उत्पन्न होती है।

ये सब परमात्मा के ही कार्य बताये हैं।

पर्जन्य बादल को कहते हैं। बादल बरसते है तो वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं। बादलों का बनना और बरसने से वनस्पतियों का उत्पन्न होना तथा उनमें ऊर्जा का आना ईश्वरीय कर्म हैं। यह इस कारण कि उनको न तो मनुष्य जानता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि कैसे ये कार्य सम्पन्न होते हैं न ही वह बिना उन साधनों के जो परमात्मा ने दिये हैं इनको बना सकता है। इस कारण उपनिषद्कार कहता है कि ये परमात्मा की ही देन हैं।

इसी प्रकार वह कहा है कि वीर्य बिना ईश्वर की सहायता के बन नहीं सकता।

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा
यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः
सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः॥ ६ ॥

अर्थ—उस (अक्षर परमात्मा से ऋक्, साम, यजुः वेद, दीक्षा, सपूर्म्ण यज्ञ, ऋतु, दक्षिणा, संवत्सर, यजमान, लोक और जहां तक सोम पवित्र करता है तथा सूर्य-ताप प्रकाश देता है, सब लोक उसके ही उत्पन्न किये हुए हैं।

तीन अक्षरों में से एक अक्षर परमात्मा का ही यहां वर्णन किया जा रहा है। इस मंत्र में पहली बात समझने की यह है कि इसमें तीन वेदों के नाम लिखे हैं और अथर्ववेद का नाम नहीं दिया। यह उपनिषद् अथर्व वेद से ही सम्बन्धित माना जाता है। इस कारण यह हो नहीं सकता था कि अपने वेद का ही यह नाम न दे। हमारा मत है कि दीक्षा से अभिप्राय अथर्व वेद ही है। दीक्षा उस उपदेश को कहते हैं जो शिक्षा समाप्त करने पर दिया जाये। वास्तव में ऋक्, यजुः और साम के उपरान्त अथर्ववेद में दीक्षा ही है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि ऋक् में सृष्टि रचना, उसका कार्य और व्यवहार में उसका उपयोग बताया है। यजुर्वेद में मनुष्य-जीवन में व्यवहार की बातें कही हैं। साम वेद में परमात्मा की अपार और अद्भुत शक्ति और उसके प्रति मनुष्य का कर्तव्य कहा है। इतना बताने के उपरान्त दीक्षा भी कही है। हमारा अभिप्राय है कि दीक्षा में वेद ज्ञान के प्राप्त करने के उपरान्त मनुष्य के व्यवहार की बात कही है। इसे ही दीक्षा कहा है। गुरुकुलों में शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त समापवर्तन संस्कार किया जाता था। यही दीक्षा मानी जाती थी। अर्थात् शिक्षा के उपरान्त दीक्षा दी जाती थी। तीनों वेदों की शिक्षा के उपरान्त दीक्षा हो गयी। यही अथर्व वेद है। अतएव उपनिषद् चारों वेदों को परमात्मा की देन कहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस मंत्र में दूसरी बात समझने की यह है कि यज्ञ और क्रतु पृथक्-पृथक् लिखे हैं। इन दोनों में अन्तर है। यज्ञ उन कर्मों को कहते हैं जो निष्काम नाव से किये जायें और क्रतु वे कर्म हैं जो मनुष्य जीवनयापन के लिये करता है। उपनिषद् में कहा है कि ये दोनों प्रकार के कर्म परमात्मा से दी गयी शक्ति से ही हो सकते हैं। विना परमात्मा की शक्ति के किसी प्रकार के भी कर्म नहीं हो सकते। इन सबको करने की शक्ति परमात्मा ही देता हैं।

एक शब्द है दक्षिणा। दक्षिणा उस धन को कहते हैं जो किसी उपकार के किये जाने के उपरान्त कृतज्ञता प्रकट करने के लिये दी जाये। मनुष्य जब किसी विद्या दान करने वाले को, अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये कुछ भेंट स्वरूप देता है तो वह उपकार का मूल्य नहीं होता। उपकार का तो कुछ भी मूल्य नहीं होता। इस कारण इसे न तो उपकार का प्रतिकार कहा जाता है न ही मूल्य। इसका नाम दक्षिणा कहा है। यह भी जब प्राप्त होती है तो उपकार करने वाला इसे परमात्मा की ही देन माने। जो उपकार किया गया था वह अमूल्य था और जो दक्षिणा प्राप्त हुई है, वह किसी कर्म का मूल्य नहीं। इसी कारण दक्षिणा को भी परमात्मा की ही देन कहा है। यह मूल्य की भांति प्राप्त नहीं होती।

इसी प्रकार यजमान का मिलना भी ईश्वर का ही फल है। यजमान से मिली दान-दक्षिणा किसी प्रकार की उजरत नहीं होती। वह किस प्रकार का पारिश्रमिक भी नहीं। इस कारण जहां दक्षिणा परमात्मा की देन है वहां किसी योग्य यजमान का मिल जाना भी परमात्मा की कृपा का फल ही है।

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः
साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च
श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ ७ ॥

अर्थ—उस (अक्षर परमात्मा) से ही बहुत प्रकार के देवता उत्पन्न हुए हैं। परमात्मा से ही सब प्रकार के साध्य, मनुष्य, पशु और पक्षी उत्पन्न हुए हैं। परमात्मा से ही श्रद्धा सत्य और ब्रह्मचर्य तथा जीवन की विधि उत्पन्न हुई है।

देवता परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। इस कारण देवता का अभिप्राय समझ लेना चाहिये। वेदों में देवताओं की स्तुति कही है। निरुक्त शास्त्र देवता को अर्थ समझाता है। कहा है कि देवता प्रकृति से उत्पन्न होने वाले वे पदार्थ हैं जिनमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ दिव्य गुण होते हैं। इसी प्रकार इस मंत्र में एक शब्द है साध्य। साध्य का अर्थ है वे सिद्ध जीवात्मा, जो सिद्धि प्राप्त कर मोक्ष धाम को जा चुके हैं। उपनिषद्कार का कहना है कि यह सिद्धि भी ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होती है। श्रद्धा का अभिप्राय हम ऊपर बता आये हैं। सत्य और बुद्धि से विचारित बात पर दृढ़ रहने को श्रद्धा कहते हैं। सत्य और विचारित बात को पालन करने में प्रायः महान् कठिनाईयां उपस्थित होती हैं। उन कठिनाईयों में दृढ़ संकल्प रहने में भी परमात्मा ही सहायक होता है।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य पालन में अपूर्व कठिनाईयां झेलनी पड़ती हैं। उनको सहन करने की शक्ति भी परमात्मा की ही दी हुई है।

यह भी कहा है कि जीवन के विधि-विधान जिनको ऋत कहते हैं, वे भी परमात्मा के ही बनाए हुए हैं।

यहां एक बात समझ लेनी चाहिये कि इस मंत्र में कार्य और घटनाओं के होने की ही बात कही है। उदाहरण के रूप में यह कहा है कि साध्य, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि परमात्मा ने उत्पन्न किये हैं, परन्तु उनके पिण्ड में वस्तु उस अक्षर भी है जिसका वर्णन इसी उपनिषद् के १-१-६, ७, ८, ९ में किया है। उसकी व्याख्या हम उन मंत्रों में ही कर आये हैं।

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्
सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा
गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥ ८ ॥

अर्थ—(परमात्मा) से ही (शरीर में) सात प्राण उत्पन्न होते हैं। सात अग्नियां (कामनाएं) और उनके सात विषय; उन विषयों में पूर्ण करने के योग्य (कर्म) और विषयों के सात स्थान प्रकट हुए। ये सब सात सात शक्तियां, इच्छाएं, उनको वरण करने के साधन और स्थान मनुष्य शरीर में हैं।

उपनिषद्कार कह रहा है कि इन सबको परमात्मा ने ही दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे-
ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च
येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥ ९ ॥
पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थि विकिरतीह सोम्य ॥ १० ॥

अत: यह सब जगत्, कर्म और तप—यह सब पूरा अक्षर ब्रह्म ही है। यह जो सब प्राणियों की गुहा में उपस्थित है, हे सोम्य ! उसको जो जान लेता है, वह अविद्या की ग्रन्थियों को छिन्न भिन्न कर देता है।

इन तीनों मंत्रों का भाव समान होने से हमने इन तीनों को एक साथ दिया है। पहले तो बताया है कि शरीर में सात प्राण हैं। प्राण परमात्मा की शक्तियां हैं। इनके विषय में हम पहले बता चुके हैं। अथर्व वेद का प्रमाण भी दिया है।

इसके साथ यह कहा है कि इन प्राणों के सात कर्म हैं, सात विषय हैं और उन विषयों के सात ही स्थान हैं। इसको एक उदाहरण से समझा जा सकता है। एक प्राण है जिससे हाथ कार्य करते हैं। पांचों कर्म इन्द्रियों में यह एक ही प्राण माना जाता है। इन इन्द्रियों में काम करने की शक्ति परमात्मा की है और परमात्मा से ही प्राप्त होती है। यह शक्ति एक प्राण है। जो कार्य ये कर्म-इन्द्रियां करती हैं वह भी परमात्मा का उत्पन्न किया हुआ है। उदाहरण के रूप में हाथ परिश्रम कर अन्न उत्पन्न करता है। उपनिषद् कहता है कि ये कार्य भी परमात्मा ने ही उत्पन्न किये हैं। अन्न खाया जाता है। हाथ से उठाकर मुख में डालते हैं। यह व्यवस्था भी परमात्मा की ही बनाई गयी है। अन्न पेट में जाता है। वह अन्न का कार्य क्षेत्र है। अन्न का उत्पन्न करना कर्म है। अन्न विषय है। पेट इस विषय का स्थान है।

इसी प्रकार समुद्र, पर्वत, नदियां और सब रूपवान् पदार्थ हैं जो इस जगत् में बने हैं अर्थात् सब व्यक्त पदार्थों के भीतर एक आत्मा स्थित है। यह स्थित आत्मा परमात्मा ही है। ये सब पदार्थ उन सब सात सात के साथ हैं, जो मनुष्य शरीर में बताये हैं। अक्षर अव्यय ही है। यही परा है और जो इस परा को जान लेते हैं, उनकी अज्ञान की ग्रन्थियां खुल जाती हैं। यह ब्रह्म (जगत्) तीनों अक्षरों का एक ही विषय है।

इन तीन मंत्रों में शक्ति का उल्लेख किया है, जगत् के नदी नालों का कथन है और इस शक्ति से मनुष्य शरीर में होने वाले कर्म का भी वर्णन है। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण हम समझते है कि इन मंत्रों में प्रकृति का वर्णन है, जीवात्माओं का वर्णन हैं और जगत् के जड़ पदार्थों का भी वर्णन है। अतः इनमें तीनों ब्रह्म का कथन है। इस पर भी तीनों ब्रह्मों में सक्रिय ब्रह्म परमात्मा ही है।

मुण्डक उपनिषद् के दूसरे मुण्डक के मंत्र एक में अक्षर प्रकृति का वर्णन है। मंत्र दो में परमात्मा का उल्लेख है। उसमें कहा है. 'अमरात्परतः परः' अर्थात् इस अक्षर से परे अक्षर। मंत्र तीन में भी परमात्मा का ही वर्णन है। उसमें कहा है कि वह अक्षर प्राण, इन्द्रियों की शक्ति, शरीर में कार्य करने वाली पांच वायुएं तथा पृथिवी इत्यादि को धारण करने वाला अक्षर है।

मंत्र चार में सारे जगत् का वर्णन कर कहा है कि उन सब में एक आत्मा है, जो प्राणियों का भी आत्मा है। यह आत्मा परमात्मा ही है। मंत्र ५-६-७ में भी परमात्मा का ही वर्णन है। इसके उपरान्त मंत्र ८-९-१० में तो ब्रह्म का ही उल्लेख है। ब्रह्म से अभिप्राय है अक्षर।

अक्षर तीन हैं। इसका प्रमाण वेद से दिया जा चुका है। श्वेताश्वतर उपनिषद् का भी प्रमाण है। यहां हम भगवद्गीता का प्रमाण दे रहे हैं। भगवद्-गीता के तेरहवें अध्याय में इसका बहुत ही स्पष्ट रूप में वर्णन किया गया है। वहां कहा है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

(भ० गी० १३-१,२)

यह शरीर क्षेत्र है। इसको जानने वाला क्षेत्रज्ञ है। इस क्षेत्रज्ञ के अतिरिक्त एक अन्य क्षेत्र है जो सब शरीरों में विद्यमान है। जो इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद जान लेता है वह सब कुछ ही जान लेता है।

गीता के इसी अध्याय में इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विषय में कहा है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान् ॥
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

(१३-१९, २०, २१, २२)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ—प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। अर्थात् ये कब से हैं ? सदा से हैं। प्रकृति में ही विकार उत्पन्न होते हैं। ये विकार प्रकृति के (तीन) गुणों के कारण हैं। (यहां पुरुष से अभिप्राय जीवात्मा है।)

देह तथा देह के उपकरण अर्थात् अंग और इनकी रचना करनेवाली प्रकृति कही जाती है। इससे उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख का भोक्ता जीवात्मा है।

कार्य, कार्य करने वाले करण अर्थात् अंग और इन करणों से होने वाले कर्म और इन कर्मों में हेतु (कारण) प्रकृति के गुण ही हैं। गुणों का संग ही जन्म-मरण का हेतु है।

सब कुछ देखने वाला, सबको शुभ सम्मति देने वाला, सब का भरण-पोषण करने वाला और सब को खा जाने (प्रलय करने) वाला महेश्वर (परमात्मा) है। जो केवल देह में उपस्थित पुरुष है वह इस (महेश्वर) से दूसरा है।

इस प्रकार तीन अक्षर बताये हैं। उपनिषद् के पूर्वोक्त मंत्रों में भी ब्रह्म का अर्थ तीन अक्षरों से है।

द्वितीय खण्ड

आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्।
एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं
विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥१॥

अर्थ—यह स्पष्ट है कि शरीर की गुहा में विचरने वाला महान् पद प्राप्त यहां (इस शरीर में) इसके ही समर्पित और इससे संयुक्त है। इसमें चलने वाला अपानादि और आंख झपकने आदि की गतियां उस (गुहाचार) के ही अर्पित हैं। सत् असत् से श्रेष्ठ, विज्ञान से परे (उत्कृष्ट) प्रजाओं से ऊपर उसे जानो।

इस मंत्र में कई भाष्यकारों ने आविः का अर्थ किया है वह ब्रह्मा। इसका अर्थ है 'यह स्पष्ट ही है।' क्या स्पष्ट है ? यह जो पूर्ण मंत्र में कहा है। मंत्र में कहा है कि शरीर की एक गुहा में बैठा हुआ उससे संयुक्त है। वह महान् पद वाला है और इस देह में जो प्राण अपानादि वायुएं हैं, उसके समर्पित हैं। शरीर की गतियां भी उसी गुहा में बैठे हुए के लिये ही हैं। जितने भी पदार्थ सत् अथवा असत् रूप प्रकृति से बने हैं वे सब उस गुहा में बैठे हुए के लिए ही हैं।

यहां सत् असत् के विषय में समझ लेनी चाहिये। सत् का अर्थ अस्तित्व वाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और असत् का अर्थ अस्तित्वहीन भी हैं। परन्तु सत्-असत् का अर्थ व्यक्त और अव्यक्त भी हैं। यहां ये शब्द इन्हीं अर्थों में हैं। अभिप्राय यह है कि प्रकृति के व्यक्त और अव्यक्त दो रूप हैं और उन दोनों रूपों से बने पदार्थों के ज्ञान से परे जो है वह गुहा में बैठा हुआ है। दूसरे शब्दों में, वह तत्त्व जो प्राणी की गुहा में बैठा है, वह प्रकृति और उसके परिणामों से परे है।

यदि उन भाष्यकारों का अर्थ कि सत् अस्तित्वयुक्त और असत् अस्तित्वहीन मान लें तो यह पूर्ण कथन अर्थहीन हो जायेगा। इसका अर्थ हो जायेगा कि वह गुहा में विचरने वाला अस्तित्वहीन पदार्थों से भी परे है। अस्तित्व-हीनों से परे होने का कुछ अभिप्राय नहीं बनता। इस कारण हम समझते हैं कि जहां भी प्रकृति के दोनों रूपों को साथ-साथ बताना होता है, वहां सत्-असत् के शब्दों का साथ-साथ प्रयोग देखा जाता है। इसका अर्थ व्यक्त-अव्यक्त है।

यह गुहा में बैठा हुआ जीवात्मा है। यह भी एक अक्षर तत्त्व है। कहा है कि शरीर के सब कार्य इस जीवात्मा के अधीन हैं। प्राण अपानादि वायुएं इसी के अर्पण की हुई हैं।

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिंल्लोका निहिता लोकिनश्च।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः।
तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि॥ २ ॥

अर्थ—और जो दीप्तिमान् और छोटे से भी छोटा (सूक्ष्म से भी सूक्ष्म) है, जिसमें समस्त लोक और लोकों में रहने वाले निहित हैं; बड़े-से भी बड़ा है, वह अक्षर ब्रह्म है, वह प्राण है, वह वेद है, वह मन है और वह सत्य है। वह अमृत है उसका ज्ञान प्राप्त करने योग्य है।

यह मंत्र परमात्मा-परक है। पहले मंत्र और दूसरे मंत्र में अन्तर स्पष्ट है। पहले मंत्र में कहा है कि वह प्राणी की गुहा में स्थित है। गुहा किसी बहुत ही छोटे स्थान को कहा जाता है। साथ ही कहा है कि वह गुहा में रहने वाला शरीर, प्राणपान वायुओं तथा शरीर की गतियों से सम्बन्धित है। यहां इस मंत्र में कहा है कि यह ब्रह्म सम्पूर्ण लोकों में रहने वाला है। अतः वह आत्म तत्त्व और यह लोक लोकान्तर में स्थित, भिन्न-भिन्न हैं। एक प्राणी के एक छोटे से स्थान में स्थित है और दूसरा सब लोक-लोकान्तर में स्थित है। पहला अक्षर जीवात्मा है और दूसरा अक्षर परमात्मा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस अक्षर से प्राण, वाणी, अर्थात् वेद तथा मन की सृष्टि हुई है। यह परमात्मा के विषय में ही कहा है।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ।। ३ ।।

परमात्मा को जानने का उपाय बताया है—

अर्थ—विद्वान् व्यक्ति को उपनिषद् रूपी धनुष लेकर, उस पर उपासना का वाण चढ़ा कर, तब उसके भाव के अनुकूल होकर अपना ध्यान उसमें केन्द्रित करे। उस अक्षर रूपी लक्ष्य को ही वींधना चाहिये।

जैसे निशाना लगाने वाला अपना ध्यान लक्ष्य पर ही केन्द्रित कर बाण छोड़ता है, उसी प्रकार परमात्मा को प्राप्त करने के लिये उसमें ही पूर्ण ध्यान लगा कर उपनिषद् में कहे अनुसार उपासना करने से परमात्मा की सिद्धि सम्भव है।

उपनिषद् में जो परमात्मा का स्वरूप वर्णन किया है, उसी स्वरूप को चित्त में रख कर उपासना करनी चाहिये।

उपासना का अभिप्राय है, समीप बैठ कर परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना।

कैसे परमात्मा के समीप बैठ उसका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है? यह चिन्तन से सम्भव है। शास्त्र में परमात्मा के गुण वर्णन किये हैं। उन गुणों का चिन्तन करना ही उसकी उपासना करना है।

उदाहरण के रूप में, शास्त्र में कहा है कि वह सर्वव्यापक है और जहां तक अम्बर है वहां तक वह उसे धारण करता है और उस पर शासन के लिये है। चिन्तन करना ब्रह्म सूत्र है—

अक्षरमम्बरान्तधृतेः।
सा च प्रशासनात् ॥

(ब्र० सू० १-३-१०, ११)

जब यह पता चले तो इसका चिन्तन मनुष्य को उसके समीप बैठा देता है। अभ्यास (योगाभ्यास) से उसका सान्निध्य अनुभव होने लगता है। यही उपासना का अभिप्राय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर उसको (परमात्मा को) प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ ४॥

अर्थ—प्रणव [ओं शब्द] का धनुष है। आत्मा उस धनुष में शर [तीर] है। ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है। स्वच्छ सबल मन से ब्रह्म में तन्मय [लीन] होकर निशाना लगाना चाहिये।

इस मंत्र में अलंकार रूप में बात कही गयी है। अलंकार यह बताया है कि ओंकार शब्द के धनुष पर अपने आत्मा को तीर बना कर दृढ़ता तथा एकाग्रता से ब्रह्म को बींधो अर्थात् प्राप्त करो।

इस अलंकार का अभिप्राय है कि आत्मा को एकाग्र कर ओम् का जप करते हुए परमात्मा को प्राप्त करो (समझने का यत्न करो)।

उपनिषद् के इस खण्ड में परमात्मा की उपासना का वर्णन किया गया है। पहले यह बताया है कि शरीर की गुहा में जीवात्मा स्थित है और उसे परमात्मा के समीप बैठा कर अर्थात् परमात्मा की समीपता का अनुभव करते हुए जीवात्मा से परमात्मा की प्राप्ति का यत्न करो। उस यत्न में ओं का जप सहायक होता है।

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्ष-
मोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या
वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥ ५॥

अर्थ—जिसमें द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष प्राणोंसहित और सब कुछ ओत-प्रोत है, उस आत्मा को ही जानो। अन्य सब बातों को छोड़ कर वह ही अमृत का साधन है।

यहां परमात्मा के विषय में ब्रह्मसूत्रों में कहे का समर्थन किया है। ब्रह्मसूत्र में कहा है—**द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्॥** (१-३-१)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ—द्यु भू का आश्रय स्थान (ब्रह्म) है।

ऊपर हम बता चुके हैं कि ब्रह्मसूत्रों में यह भी कहा है कि परमात्मा आकाश के अन्त तक उसे धारण करता है और उस पर शासन करता है। यही बात इस उपनिषद् में कही है।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उस परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई अनादि तत्त्व है ही नहीं। गीता, ब्रह्मसूत्र और वेदों के प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि विश्व में तीन अक्षर हैं। इस उपनिषद् में भी इसी बात को स्वीकार किया है।

इस मंत्र में कहा है कि मोक्ष प्राप्त करने के लिये परमात्मा का ही आश्रय लेना चाहिये। यह स्पष्ट है कि आश्रय और आश्रित दो पृथक्-पृथक् हैं।

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्॥ ६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार रथ चक्र की नाभि में अरे लगे रहते हैं, उसी प्रकार शरीर का हृदय (मस्तिष्क) सब नाड़ियों से जुड़ा होता है। और हृदय में यह (परमातमा) अनेक प्रकार से प्रकट होता हुआ उसमें (शरीर में) विचरता है। इस आतमा (परमातमा) का ओं शब्द से चिन्तन करो। वह तुम्हारा अन्धकार (अज्ञान) दूर कर तुम्हारा कल्याण करेगा।

यह स्मरण रखना चाहिए कि उपनिषद्कार शरीर में दो आत्मतत्त्वों को मानता है। एक है जो शरीर की गतियों से सम्बन्धित है। वह (गुहा) मस्तिष्क में रहता है। और दूसरा आत्म तत्त्व है जो द्यु भू का आश्रय स्थान है। वह भी वहां शरीर के हृदय (मस्तिष्क) में अनेक प्रकार से प्रकट होता है।

कैसे प्रकट होता है? यह कहा जाता है कि जो क्रियायें शरीर में स्थित जीवात्मा के अधीन नहीं, जैसा कि जीवन भर हृदय का स्पन्दन करना, भोजन-प्रणाली (alimentary canal) में भोजन का पचना और आगे ही आगे ले जाया जाना; मल-मूत्र की शरीर में से निकलने की क्रिया इत्यादि। शरीर की ये क्रियायें जीवात्मा के अधीन नहीं हैं, ये परमात्मा के सामर्थ्य से शरीर में होती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमात्मा की यह शक्ति प्राणी के नियंत्रण से बाहर है इस पर भी यह है प्राणी के कल्याण के लिये ही।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः।।
मनोमयः प्राणशरीरनेता
प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा
आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।। ७ ।।

अर्थ—जो सर्वदा सब कुछ जानने वाला सर्ववित् (सर्वव्यापक) है, जिसकी महिमा भूलोक में फैली हुई है और दिव्य ब्रह्मपुर में है, निश्चय से यह पूर्ण व्योम में विचरने वाला प्रतिष्ठित है।

मनोमय प्राण और शरीर को ले जाने वाला अन्न में उपस्थित हृदय को संयुक्त करता है।

विद्वान् लोग उसे बुद्धि से देखते हैं। जब चमकता है (प्रकट होता है) तो आनन्द देने वाला और मोक्ष प्राप्त करता है।

मंत्रों में ब्रह्मपुरि शब्द है। भिन्न-भिन्न भाष्यकारों ने इसका भिन्न-भिन्न अर्थ किया है। ब्रह्मपुरी वह स्थान है जहां तक ब्रह्म (परमात्मा की रचना शक्ति) का कार्य चला हुआ है। इसका अभिप्राय है कि परमात्मा की महिमा इस भूलोक अर्थात् जहां प्राणी बसे हैं, वहां है और उस सब स्थान पर है जहां जगत्-रचना हुई है।

सर्ववित् के शाब्दिक अर्थ हैं सबको जानने वाला। यहां अभिप्राय है कि जो सब स्थान पर है। ज्ञान की बात सर्वज्ञ में आ चुकी है।

आगे कहा है कि यह आत्मा प्राण और शरीर को चलाने वाला है। इसका अभिप्राय है कि जब प्राणी की मृत्यु होती है तो जीवात्मा सूक्ष्म शरीर से लिपटा हुआ ईश्वर के बल से ही मृत शरीर से ले जाया जाता है।

स्थूल शरीर तो मृतक के सम्बन्धी जला देते हैं। यह सूक्ष्म शरीर के विषय में कहा है कि उसे परमात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।। ८ ।।

अर्थ—उसके विषय में जान लेने पर हृदय की गांठें खुल जाती हैं । सब संशय दूर हो जाते हैं और कर्मफल नष्ट हो जाते हैं ।

परावरे का अभिप्राय है आर-पार अर्थात् पूर्ण रूप में परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर । परमात्मा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य के लिये सम्भव नहीं । अतः इसका यही अर्थ बनता है—परमात्मा के गुणों की असीमता का ज्ञान ।

हृदय की ग्रन्थियों का अभिप्राय है मन के मोहादि सम्बन्ध, धन के साथ मोह, इच्छाओं की पूर्ति का मोह अथवा अन्य मोह के विषयों से लगाव ।

हृदय का अर्थ रक्त-संचालन यंत्र नहीं है । इसका अभिप्राय है मस्तिष्क । नाड़ियों का शाब्दिक अर्थ तो छिद्र वाली नालियां (tube like organs) है परन्तु यहां नाड़ियों से अभिप्राय शिराएं (nerves) है । ग्रन्थियां रक्त संचालन यंत्र की नहीं होतीं, वे मन की होती हैं जो मस्तिष्क से संयुक्त होती हैं ।

संशय विचार शक्ति के साथ सम्बन्ध रखते हैं । इनका सम्बन्ध भी बुद्धि से है ।

अतः इन मंत्रों में हृदय से अभिप्राय मस्तिष्क ही है, जो मन, बुद्धि और जीवात्मा का निवास स्थान है ।

इसी कारण कहा है कि विद्वान् लोग बुद्धि से परमात्मा को देख लेते हैं । बुद्धि से देखने का अभिप्राय है जान लेते हैं ।

मस्तिष्क में मन, इन्द्रियों के द्वारा पूर्ण शरीर से सम्बन्धित होता है । बुद्धि मन से प्राप्त ज्ञान का विश्लेषण अर्थात् समझने का यत्न करती है । यह समझकर जीवात्मा उस पर कार्य करता है ।

मन बुद्धि तो परमात्मा की देन है । ये कर्म फल से मिलते हैं । परमात्मा की कृपा से कर्म फल भी गौण हो जाते हैं । तब जीवात्मा इस शरीर बन्धन से मुक्त हो जाता है ।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ।। ९ ।।

अर्थ—हिरण्मय कोष से परे निर्मल, कलाहीन, ब्रह्म विद्यमान है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह शुभ्र (निर्मल), ज्योतिस्वरूप (चेतन) और ज्ञानियों से जाना हुआ आत्मा समझो।

हिरण्मय का अर्थ है चमकता हुआ। यहां अभिप्राय है ज्योतिस्वरूप चेतन। कोष का अर्थ है खोल। अभिप्राय है कि चेतन शरीर के भी परे शरीर से भिन्न वह निर्मल ब्रह्म रहता है। वह कलाहीन है। कला का अर्थ है हथियार अथवा कार्य करने का यंत्र। जैसे शरीर के हाथ-पांव हैं, परमात्मा के हाथ-पांव नहीं हैं। कारण यह कि वह व्यापक होने से हथियारों अथवा इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं रखता। अतः परमात्मा को निष्कल कहते हैं। वह शुभ्र, सर्वथा चिन्तनीय, सुन्दर चेतन है और ज्ञानियों से जाना जाता है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ १० ॥

अर्थ—जहां सूर्य नहीं चमकता, न ही चन्द्र तारे चमकते हैं, आकाश की विद्युत भी नहीं चमकती, अग्नि (लकड़ी जलाने से उत्पन्न) की तो गिनती ही नहीं।

उससे प्रकाशित होने से ही सब छोटे-बड़े चमकने लगते हैं। उसके चमकने से ही सब चमकते हैं।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥ ११ ॥

अर्थ—यह अमृत ब्रह्म ही आगे-पीछे, दायें-बायें, नीचे ऊपर फैला हुआ है। यह सब कुछ सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।

वास्तव में उपनिषद् ग्रन्थ तर्क के ग्रन्थ नहीं हैं। भक्तजनों के भक्ति भाव में रस होकर काव्य रूप में कहे पद हैं। इस कारण इनके अर्थ करते समय विचार तथा भावनाओं के पीछे छिपी तथ्य की बातों को जानने की आवश्यकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक ही बात को बार-बार कहा गया है। बार-बार कह कर भावनाओं से ओत-प्रोत व्यक्ति यह समझता है कि उसने अभी भी भली-भांति अपने भाव को प्रकट नहीं किया।

परन्तु वेद में कथन भावना-युक्त नहीं हैं। वहां वर्णन वैज्ञानिक अर्थात् बुद्धि-युक्त हैं। अतएव वेद इस प्रकार न तो पुनरुक्ति करता है, न ही परमात्मा के विषय में एक मंत्र में कह कर, बार-बार कहने का यत्न करता है।

एक मंत्र है—

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ् शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽ
अर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

(यजुः ४०-८)

इसमें कहा है कि वह सब स्थान पर पहले ही पहुंचा हुआ है। बलवान, शरीर के बिना, छिद्र रहित, स्नायुओं से रहित, शुद्ध, पापियों से अबद्ध, विद्वान्, मनीषी, दोषों से दूर, स्वयं ही प्रकट होने वाला, यथार्थ ज्ञान का देने वाला, विशेष रूप में विधान करने वाला, सनातन, संयुक्त रूप में सर्वत्र रहने वाला है।

तृतीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-।
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ १ ॥

अर्थ—दो सुन्दर पंखों (गतियों) वाले, साथ-साथ संयुक्त सखाभाव से एक ही वृक्ष के आश्रय रहते हैं। उनमें एक तो स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है।

पूर्व के मुण्डकों में तीन अक्षरों का वर्णन किया गया है। मु० १-६, ७, ८ में अक्षर प्रकृति का वर्णन है। तदनन्तर मु० १-९ में अक्षर परमात्मा का वर्णन है और बताया है कि वह ब्रह्म (चराचर जगत्) बनाने वाला है। ब्रह्मा रचना-शक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का नाम है।

तदनन्तर इस जगत् (चलायमान संसार) का वर्णन आरम्भ कर दिया है। सत्य अर्थात् गतिशील संसार की व्याख्या है। इस कार्य-जगत् के रचने वाला परमात्मा है। यह कहा है कि जो व्यक्ति इस परम पुरुष को नहीं मानता वह उस अन्धे के समान है जो अन्धे के पीछे चल पड़ता है।

इस प्रकार ब्रह्म-विद्या की महिमा वर्णन की है।

इतना प्रथम मुण्डक में वर्णन कर दूसरे मुण्डक में प्रकृति और पुरुष के संयोग का वर्णन है। बताया है कि इस संयोग से प्राण, मन, इन्द्रियां, आकाश तथा तेज और पृथिवी उत्पन्न होती है। इसके उपरान्त जगत् की उत्पत्ति और बनावट का वर्णन कर दिया है। इस मुण्डक के प्रथम खण्ड में परमात्मा और प्रकृति के संयोग से ब्रह्माण्ड की रचना का वर्णन है। ब्रह्माण्ड में जहाँ जड़ पदार्थों की उत्पत्ति का वर्णन है, वहां रेतस् से प्रजाओं (प्राणियों) की उत्पत्ति का भी वर्णन है।

इस प्रकार प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही प्रकृति की सृष्टि-रचना की बात बता कर यह कहा है कि सृष्टि दो प्रकार की है। एक सृष्टि चेतन है दूसरी अचेतन। दोनों चलायमान हैं। इस पर भी दोनों में अन्तर है। चेतन चलायमान में दो प्रकार के पुरुषों का प्रकृति से संयोग है। अचेतन चलायमान में तो जड़-प्रकृति और परमात्मा का संयोग माना है और चेतन चलायमान जड़ प्रकृति के साथ दो प्रकार के पुरुषों का वर्णन है।

इस तृतीय मुण्डक में भी जड़ प्रकृति, दोनों प्रकार के पुरुषों (जीवात्मा और परमात्मा) का वर्णन किया है।

कहा है कि वृक्ष अर्थात् प्रकृति के बने आश्रय स्थान पर दो गतिशील चेतन तत्व आश्रित रहते हैं। एक जड़ रूपी प्रकृति का भोग करता है और दूसरा उसका भोग नहीं करता।

स्वामी शंकराचार्य उपनिषदों को वेदों से ऊपर मानते हैं। उनका कहना है कि एक ही ब्रह्म है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं। जो जड़ अथवा जीवात्मा दिखाई देता है, उपाधि भेद से है। वास्तव में एक ही है दूसरा नहीं। वह इस मंत्र की व्याख्या में कहते हैं—

तयोः परिष्वक्तयोरन्य एकः क्षेत्रज्ञो लिङ्गोपाधिवृक्षमाश्रितः
पिप्पलं कर्मनिष्पन्नं सुखदुःखलक्षणं फलं स्वाद्वनेकविचित्रवेदनास्वादरूपं
स्वाद्वत्ति भक्षयत्युपभुङ्क्तेऽविवेकतः ।।

(मु० ३-१-१ शंकर भाष्य)

इसका अर्थ है—उस वृक्ष पर एक अन्य पक्षी (क्षेत्रज्ञ) है, जो लिंग उपाधि से वृक्ष के आश्रित कर्म करता हुआ सुख-दुःख लक्षण वाले फल का स्वाद से भोग करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो बात यहां ध्यान देने योग्य है वह उपाधि शब्द है। उपाधि का अभिप्राय है कि सामयिक और स्थानीय परिस्थिति से प्रभावित रूप।

यह स्वामी जी की अयुक्ति-संगत और वेद शास्त्र से अप्रमाणित बात है। परमात्मा उपाधि से माया में फंस अज्ञानियों की सी बातें करने लगता है और फिर कर्मों का फल सुख दुःख पाता है; यह भ्रम मात्र है।

वास्तव में केवल एक ही अक्षर मानना, अशुद्ध बात है। एक ही परमात्मा जो अनादि अक्षर है, वही उपाधि से, परिस्थिति बदलने से, अज्ञ और सुख-दुःख का भोक्ता हो गया, समझ में न आने वाली बात है।

यह मंत्र मु० ३-१-१ वेद में भी आया है। वहां और यहां भी उपाधि का कहीं वर्णन नहीं किया गया।

वेद में इसी मंत्र से अगला मंत्र इस मंत्र के अभिप्राय को समझाने के लिये दिया गया है। मंत्र है—

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥

(ऋ० १-१६४-२१)

अर्थ है—जहां सुन्दर गति वाला (जीवात्मा) निरन्तर ज्ञान से अपने लिये मोक्ष का (जन्म-मरण से रहित अवस्था का) भोग मांगता है;

वह भुवनों का रक्षक स्वामी (परमात्मा) मुझ विद्वान् परिपक्व ज्ञान वाले को सब ओर से प्रवेश करता है (प्रवेश देता है)।

इस मंत्र का अभिप्राय यह है कि ऊपर के मंत्र में जो दो सुपर्णा (सुन्दर गति वाले) कहे हैं उनमें एक जो अज्ञ होने से प्रकृति का भोग कर रहा है, जब ज्ञानवान् हो जाता है तो अपने ज्ञान के बल से मोक्ष का भोग मांगता है। तब भुवनरक्षक परमात्मा उस ज्ञान में परिपक्व को मोक्ष में प्रवेश देता है।

इससे अगला मंत्र भी देखना चाहिये। कहा है—

यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद॥

(ऋ० १-१६४-२२)

अर्थ—जिस वृक्ष पर स्वाद लेने वाला सुपर्ण सुन्दर गति वाला (जीवात्मा) विश्व में सन्तान उत्पन्न करता है, वह प्रकृति के स्वादु फल खाता हुआ परमात्मा को नहीं जानता। उसके कर्म-फल नष्ट हो जाते हैं।

यही बात उपनिषद् में कही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ २ ॥

अर्थ—(परमात्मा के साथ) समान प्रकृति के आश्रय रहने वाला पुरुष (जीवात्मा) अपने हीन कामनाओं में निमग्न मोहित हो जाता है।

(परन्तु) जब वह जुष्ट (परमात्मा से संयुक्त) हो जाता है और देखता है महिमामय परमात्मा को, तो शोकरहित हो जाता है।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥ ३ ॥

अर्थ—जब विश्व के ईश्वर को देखता है, जब वह ब्रह्मा के उत्पत्ति स्थान को देख लेता है (पा जाता है)

तब वह।

विद्वान् व्यक्ति पाप-पुण्य से पृथक हो जाता है और निर्मल हो परम समता को प्राप्त हो जाता है।

यहां शब्द है ब्रह्मयोनिम्। योनिम् का अभिप्राय उत्पत्ति स्थान है। हम बता चुके हैं कि ब्रह्मा का अभिप्राय है जगत् की रचना-शक्ति। ब्रह्मा (रचना शक्ति का) उत्पत्ति स्थान परमात्मा है। अतः मंत्र का अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य उसको देख लेता है तो वह इस संसार में रहता हुआ भी महान् साम्य वस्था को प्राप्त हो जाता है। न उसे किसी बात पर हर्ष होता है न शोक होता है। न वह किसी से द्वेष रखता है न ही किसी से मोह करता है। उसके लिये सब समान रूप हो जाते हैं।

वह व्यक्ति निष्काम भाव से कर्म करने वाला हो जाता है।

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति
विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावा-
नेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ।। ४ ।।

अर्थ—जो सब भूतों (प्राणियों) में विराजमान, कर्म करने की सामर्थ्य उत्पन्न कर रहा है, वह प्राण है। इसे जानकर विद्वान् अति-वादी (डींग हांकने वाला) नहीं रहता। वह आत्मा में क्रीड़ा करने वाला और आत्मा में ही रमण करने वाला, अपने कर्मों को ही समझने और उनको ही सुधारने में लीन हो जाता है। वह ब्रह्मवादियों में सर्वश्रेष्ठ कहाता है।

इस मुण्डक में पहले यह बताया है कि इस प्रकृति से बने संसार में दो गतिशील तत्त्व हैं, एक तत्त्व उस प्रकृति का भोग करता है और दूसरा भोग नहीं करता, साक्षीमात्र है। जो भोग करने वाला आत्म तत्त्व है उसको भी दो श्रेणियों में बांटा है। एक वह जो ज्ञान प्राप्त कर उस ज्ञान के आधार पर जीवन चलाता हुआ परमात्मा से मोक्ष का भागीदार बनने की मांग करने लगता है और दूसरा जो केवल प्रकृति के स्वादों में ही लीन रहता है। वह उस परमात्मा को नहीं जान सकता।

आगे कहा है कि जो विद्वान् आत्मा है वह सृष्टि के बनाने वाले, जगदीश्वर को जान लेता है और जानकर उस स्थान को जान जाता है जहां पहले रचना-कार्य आरम्भ हुआ था, जो ब्रह्मा का योनि-स्थान है। यह जानकर वह पुरुष (जीवात्मा) शोकरहित हो जाता है।

इस मंत्र में कह दिया है कि जो वह सब प्राणियों में भर रहा है। अभिप्राय यह कि कार्य करने की जो शक्ति प्राण कहाती है वह सब प्राणियों में विद्यमान है। उस प्राण की सहायता से ही प्राणी अपने और दूसरों के प्रति कार्य करता है। आत्म-क्रीड़ा का अर्थ है कि जब वह पुरुष किसी दूसरे से व्यवहार करता है तो ऐसे करता है मानो अपने साथ ही व्यवहार कर रहा है। यही बात वेद में भी एक स्थान पर कही है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति।।

(यजु : ४०-६)

अर्थ—जो सब प्राणियों को अपने समान ही देखता है, सब प्राणियों में अपने को ही देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता।

यही भाव इस उपनिषद् में 'आत्मक्रीड़ा आत्मरतिः' कहकर प्रकट किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेद का अर्थ है—जो भली-भांति और ठीक-ठीक समझता है, वह ही श्रेष्ठ ज्ञानी है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ ५ ॥

अर्थ—सत्य से (अथवा सत्य-कार्य जगत् का व्यवहार देखने से) तप से, ब्रह्मचर्य से एवं सम्पूर्ण ज्ञान से वह शरीर में ही ज्योतिर्मय श्रेष्ठ को यत्न से देखता है। तब उसके दोष (पाप) क्षीण हो जाते हैं।

इस मंत्र में यह कहा गया है कि वह जीवात्मा, जिसे ऊपर का मंत्रों में कहा है कि मोक्ष प्राप्त करने का यत्न कर रहा है, वह सत्य व्यवहार से अथवा सत्य कार्य जगत् में नियमानुसार व्यवहार रखने से (सत्य का अर्थ कार्य-जगत् भी है) ब्रह्मचर्य से और तपस्या से निर्मल और ज्ञानवान हो जाता है। वह निर्मल-आत्मा, योगी-जन देखते हैं। देखने का अभिप्राय है कि ऐसे आत्मा का ज्ञान योगीजनों को ही होता है। अनभिज्ञ बुद्धिहीन ऐसी आत्माओं का दर्शन नहीं कर सकते अर्थात् वे उनसे लाभ नहीं उठा सकते।

सत्यमेव जयति नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ६ ॥

अर्थ—सत्य ही विजय को प्राप्त होता है, मिथ्या नहीं। सत्य से ही देवयान मार्ग पर विस्तार होता है। जिसके द्वारा आप्त काम ऋषि उस परम भण्डार (निधि) को प्राप्त होते हैं। (आप्त काम का अभिप्राय है जो कर्म के तत्व को जानते हैं।)

सत्य से अभिप्राय, जैसा हमने ऊपर के मंत्रों में बताया है जगत् का सत्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान भी है। इसी प्रकार अनृत का अर्थ ऋतों को न समझना भी है।

वास्तव में प्रकृति के परिणामों का ज्ञान ही हम सत्य मानते हैं। और इसके ज्ञान से ही इस मंत्र में कहा है कि कार्य-जगत् के ज्ञान में आत्मा निर्मल होती है। ऋषि इस मंत्र में यह कह रहा है कि प्रकृति के नियमों का ज्ञान ही सत्य का ज्ञान है। उन नियमों को ही ऋत कहते हैं।

अतः इस मंत्र का अर्थ इस प्रकार है—प्रकृति के नियमों अर्थात् ऋतों का ज्ञान ही विजय (सफलता) है। और अनृत (ऋतों का ज्ञान न होना) ही अज्ञानता (असफलता) है।

इस ज्ञान से ही देवयान का मार्ग सुगम होता है। अभिप्राय यह है कि जगत् के ज्ञान से और उसका पालन करने से देवयान मार्ग सुगम होता है। देवयान का अर्थ है देवताओं तक पहुंचने का मार्ग।

देवता है प्रकृति के दिव्य गुणयुक्त पदार्थ। जैसे इन्द्र, मरुत, मित्र, वरुणादि। इनको वर्तमान विज्ञान की भाषा में atomic particles, molecules, electronsetc. कहते हैं। इनके साथ ही परिमण्डल के भीतर की शक्ति ताप, जातवेदा-अग्नि, भू-आकर्षण और चुम्बकीय शक्ति भी प्रकृति के परिणामों में है। इनका ज्ञान भी ऋतों का ज्ञान ही कहाता है। इनके ज्ञान से विजय होती है। विजय से अभिप्राय है प्रकृति पर विजय और फिर देवताओं का ज्ञान सुलभ हो जाता है।

इन देवताओं का ज्ञान रखने वाले वैज्ञानिक (scientists) हैं। इन वैज्ञानिकों के ज्ञान से ऋषिगण परम-ज्ञान के रहस्य को प्राप्त होते हैं।

यह समझ लेना चाहिये कि वैज्ञानिकों और ऋषियों में अन्तर किया गया है। वैज्ञानिक तो केवल देवताओं का ज्ञान रखते हैं और ऋषि, उस ज्ञान के स्रोत परमात्मा को प्राप्त लोग होते हैं।

यह इस प्रकार है। प्रकृति परमात्मा से निश्चित नियमानुसार ही कार्य करती है। नियमों का ज्ञान तो विज्ञान (science) है और उन नियमों के निर्माता का ज्ञान ब्रह्मज्ञान है।

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं
सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥ ७॥

अर्थ—और वह बृहत्, दिव्य और अचिन्त्य रूप वाला है। वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अनुभव होता है। इस देह के भीतर होता हुआ भी दूर से भी दूर है। वे जो उसको देखते हैं, ज्ञानवान हैं, गुहा में स्थित हैं।

आत्म-तत्त्व जो रचित जगत् (सत्य) को जानकर सफलता प्राप्त करता है, वह महान् आत्म-तत्त्व अति सूक्ष्म चेतन की शरीर की गुहा में देखता है। यह वेदानुसार ही है। इसके विषय में हम मंत्र(ऋ० १-१६४-२०४) ऊपर दे चुके हैं। यहां जो बात विशेष कही है वह यह है कि आत्म तत्त्व शरीर के मस्तिष्क की गुहा में रहता हैं। ऐसा माना जाता है, कि मस्तिष्क के अग्र भाग में, माथे के मध्य स्थान के पीछे यह गुहा है। वहां मन और बुद्धि भी टिके हैं। वहीं यह आत्म तत्त्व (जीवात्मा) रहता है। यह जीवात्मा पूर्ण शरीर में व्यापक नहीं। शरीर के साथ इसका सम्बन्ध संवेदनात्मक शिराओं (nerves) से बना हुआ होता है। उसी गुहा में वह परमात्मा का दर्शन करता है, जो सर्वव्यापक है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥ ८ ॥

अर्थ—वह आत्मा न तो नेत्र से देखा जा सकता है, न ही वाणी से ग्रहण किया जा सकता है। अन्य रश्मियों (इन्द्रियों) से भी यह नहीं जाना जा सकता। इसे न तो इन्द्रियों से जान सकते हैं, न ही यह कर्म से जाना जा सकता है।

ज्ञान के फलस्वरूप जब (जीवात्मा) शुद्ध होता है, तब ध्यान लगाने (चिन्तन) से वह निष्कल (कलाओं अर्थात् इन्द्रियों से रहित) दिखाई दे जाता है। यह अनुमान का विषय है।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ।। ९ ।।

अर्थ—जिस शरीर में पांच प्रकार के प्राण प्रविष्ट हैं, उसमें वह अणु (सूक्ष्म) आत्मा चेतनायुक्त हो जाता है। प्राणों से चित्त प्रकाशित होता है (और) उससे विशुद्ध आत्मा प्रकाशित हो जाता है।

इस मंत्र (मु० ३-१-९) में विशेष बात यह कही है कि वह सूक्ष्म आत्मा जो प्राणी के शरीर में स्थित है वह प्रकाशित हो उठता है चित्त से। चित्त प्राणों से प्रकाशित होता है। पांच प्रकार के प्राण चित्त को प्रकाशित करते हैं। वे शरीर के भीतर नहीं उत्पन्न होते वरन् इसमें प्रविष्ट होते हैं।

इसमें समझने वाली बात है प्रकाशित होने की। जैसे दीपक के प्रकाश से आस-पास की वस्तुएं प्रकाशित हो दिखाई देने लगती हैं वैसे ही यहां प्रकाशित होने से अभिप्राय है। यदि दीपक न हो तो वस्तुएं प्रकाशित नहीं हो सकतीं।

शरीर में प्राण बाहर से प्रविष्ट होते हैं। ये पांच प्रकार के हैं। यहां पांच प्रकार के प्राणों से अभिप्राय पांच प्रकार की वायुओं से हैं। ये वायुएं हैं—(१) प्राण (२) अपान (३) समान (४) उदान और (५) व्यान। इन पांच वायुओं से शरीर में पांच प्रकार के कार्य होते हैं। यह माना जाता है कि वायु शरीर में पांच प्रकार की गतियों को चालना देने वाली है।

कहा है कि ये प्राण बाहर से आते हैं अर्थात् परमात्मा से प्राप्त होते हैं। इनसे चित्त प्रकाशित होता है। अर्थात् इन प्राणों से चित्त का ज्ञान होता है। चित्त है, मन और बुद्धि। चित्त से जीवात्मा प्रकाशित होता है। अर्थात् उसका ज्ञान होता है। प्रकाशित होने का अर्थ निर्माण करना नहीं प्रत्यक्ष करना है।

इन्द्रियों में प्राण कार्य करते हैं और इन्द्रियां मन के साथ सम्बन्धित होने से मन को प्रकाशित करती हैं अर्थात् मन को ज्ञान कराती हैं। मन से बुद्धि को ज्ञान होता है। जब बुद्धि मन द्वारा प्राप्त ज्ञान पर सम्मति देती है तो बुद्धि का ज्ञान होता है। बुद्धि से विचारित बात पर कार्य जीवात्मा करता है। इस कारण जीवात्मा का ज्ञान होता है।

प्राण, चित्त (मन और बुद्धि); उपनिषद्कार चित्त का अर्थ केवल मन और बुद्धि करता है। इस कारण वह जीवात्मा अर्थात् गुहा में रहने वाले आत्मा को पृथक् कहता है। चित्त से जीवात्मा प्रकाश में आता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यं यं लोकं मनसा संविभाति
विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामां-
स्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ।। १० ।।

अर्थ—विशुद्ध आत्मा जिस-जिस लोक की मन में भावना (चिन्तन—इच्छा) करता है उस-उस लोक को और कामनाओं को प्राप्त कर लेता है।

इसलिये ज्ञानी आत्मा यत्न करने से कामना प्राप्त कर लेता है और उस लोक को, जिसकी कामना करता है प्राप्त कर लेता है।

ज्ञानवान् आत्मा जिस-जिस लोक की कामना करता है अर्थात् जिस प्रकार के जन्म की इच्छा करता है उसी प्रकार के लोक को प्राप्त कर लेता है। यहां शब्द है अर्चयेत् अर्थात् अर्चना करने से। इसका अभिप्राय है यत्न करने से।

इस मुण्डक के प्रथम खण्ड में यह बता कर कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही शरीर में रहते हैं, जहां जीवात्मा शरीर से भोग करता है और परमात्मा केवल साक्षी बना रहता है। यह भी कहा है कि कुछ जीवात्मा जो शरीर से स्वाद लेते हैं वे परमात्मा को प्राप्त नहीं होते। दूसरे हैं जो ज्ञानार्जन करते हैं। वे मोक्ष पाने के उम्मीदवार हैं।

इसी मुण्डक के अन्त में यह बताया है कि इस दूसरे प्रकार के आत्म-ज्ञान का अर्जन कर ज़ीवात्मा जिस-जिस लोक की और जिस-जिस विभूति की इच्छा करते हैं, यत्न से वे उनको पा जाते हैं।

द्वितीय खण्ड

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम
यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामा-
स्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ।। १ ।।

अर्थ—वह (आत्मज्ञानी आत्मा) उस परम को (सम्पूर्ण रचित जगत् को) जो ब्रह्मा का धाम रचना-साधन है, जिसमें सब कुछ भली-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भांति स्थित है, जान लेता है। जो उस सर्वज्ञ की उपासना (समीप बैठ-कर ज्ञान प्राप्त) करता है और निष्काम भाव से उपासना करता है, वह ज्ञानी वीर्य के व्यवहार से (जन्म-मरण के बन्धन से) छूट जाता है।

कामान्यः कामयते मन्यमानः
स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्विव-
हैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ।। २ ।।

अर्थ—कामना करने वाला कामी पुरुष भोगों की कल्पना करता है तो वह वहां-वहां कामना प्राप्त कर लेता है।

परन्तु कामनाओं का भरपूर त्याग करने वाला (कृत-कामना) यहां ही उसकी कामनाएं लीन हो जाती हैं।

जैसे ऊपर (मु० ३-१-१० में) कहा है कि ज्ञानी उस लोकों को पा जाता है जिनकी वह कामना करता है, वैसे ही इस मुण्डक (३-२) के आरम्भ में ही कहा है कि वही विद्वान् जब निष्काम भाव से कर्म करने लगता है तब मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

अभिप्राय यह है कि जगत् (महान् ब्रह्म) का ज्ञान प्राप्त करने वाला तो जिस-जिस लोक की कामना करता है वहीं जन्म पा जाता है, परन्तु इसमें जो निष्काम भाव से कर्म करता है, अर्थात् किसी विशेष प्रयोजन से नहीं वरन् निष्काम भाव से अर्चना करता है, वह मोक्ष को पाता है।

पुरुष कामनाओं की इच्छा करता हुआ कामनाओं को प्राप्त करता है और वह निष्काम कर्म करता हुआ पूर्ण-काम, यहां ही सब भोग-भोगकर कृत काम होकर, यहां ही अपनी सब कामना विलीन कर जाता है।

इस प्रकार जैसे पूर्व के मुंडक (२-१-३) में इस संसार के भोग में लगे पुरुष की दो श्रेणियां मानी हैं, इस मुण्डक (३-२-२) में ज्ञानी पुरुष की भी दो श्रेणियां मानी हैं। एक है जो शुभ कर्म करते हैं, कामना से उनको अपनी कामना-नुसार फल मिल जाता है। दूसरे हैं जो निष्काम भाव से कर्म करते हैं, उनकी सब कामना यहां ही पूर्ण हो जाती हैं और वे अपने साथ कोई कर्म फल नहीं ले जाते। उनके कर्मफल यहां ही विलीन हो जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुँस्वाम्।। ३ ।।

अर्थ—ऐसा आत्मा (जो निष्काम भाव से कर्म कर कृत-काम हो मोक्ष पद को पाता है) बहुत प्रवचनों (उपदेशों को पढ़ने) तथा सुनने से प्राप्त नहीं होता, न ही बहुत उपदेश सुनने से यह प्राप्त होता है। यह तर्क-वितर्क से भी प्राप्त नहीं होता। यह जिसकी इच्छा करता है उसी को प्राप्त कर लेता है। उसके अनुरूप ही यह अपने आत्मा को लीन कर लेता है।

इस मंत्र का अभिप्राय यह है कि मनुष्य को ईश्वर की प्राप्ति के लिये विशेष पढ़ने और सुनने की आवश्यकता नहीं होती। इन पढ़ने और सुनने मात्र से कुछ प्राप्त नहीं होता। उसे, जिसे प्राप्त करने की इच्छा होती है, उसके वैसे ही स्वरूप की उपासना से वह वैसा ही हो जाता है।

स्वरूप में लीन होने अथवा वैसा ही स्वयं बनने के यत्न से वह पुरुष वैसा ही बन सकता है।

यही उपासना है। समीप बैठकर परमात्मा के गुणों के चिन्तन करने से जीवात्मा वैसा ही हो जाता है।

उपासना का अर्थ उदेपश सुनना अथवा ग्रन्थ पढ़ना नहीं। वरन् परमात्मा के गुणों को जान कर वैसा ही बनने का यत्न करना है।

इसमें हमारा कुछ मतभेद है। बिना ज्ञान प्राप्त किये मोक्ष प्राप्त नहीं होता और ज्ञान प्राप्त होता है पढ़ने से, सुनने से अथवा मनने करने से। परन्तु यहां इन तीनों को ही परमात्मा की प्राप्ति में हीन माना गया है, ऐसा भास होता है। अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं। इस पर भी यह तो मानना ही होगा कि कम-से-कम इस उपनिषद् का पढ़ने की आवश्यकता तो है ही।

पातञ्जलि योग दर्शन में कहा है—'तपःस्वाध्यायेश्वरप्राणिधानानि क्रिया-योगः।।' (योग दर्शन २-१।) अर्थात् योग क्रिया है तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर शरणार्पण होना।

स्वाध्याय ईश्वर प्राप्ति में एक आवश्यक अंग है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो
न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वां-
स्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥ ४ ॥

अर्थ—दुर्बल मनुष्य को आत्मा (जैसा ऊपर के मंत्रों में वर्णन किया है) प्राप्य नहीं हो सकता। न ही प्रमादी, तप और सन्यास के गुणों से रहित को ऐसा आत्मा प्राप्त हो सकता है।

इस पर भी जो इन उपायों से (जिन का वर्णन ऊपर के मंत्रों में किया है) यत्न करता है, वह विद्वान् उन उपायों से ब्रह्म-धाम (कार्य जगत्, में प्रविष्ट हो जाता है।

यहां दुर्बल मनुष्य से अभिप्राय शरीर से दुर्बल होना नहीं है। यद्यपि शरीर में इतनी शक्ति तो होनी चाहिये ही, जितनी कार्य करने के लिये आवश्यक है। परन्तु शरीर की विशेष शक्ति का आत्मोन्नति से सम्बन्ध नहीं है। अतः इस मंत्र में दुर्बल से अभिप्राय दुर्बल मन और बुद्धि है। वह व्यक्ति जो मन और बुद्धि से दुर्बल होता है वह उन्नतशील आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।

इस विषय में यदि यह कहा जाये तो अधिक ठीक होगा कि यदि किसी कारण से जीवात्मा को दुर्बल मन और बुद्धि मिल जाये तो जीवात्मा के ज्ञान का स्रोत दूषित हो जायेगा और फिर प्राप्त ज्ञान का विश्लेषण भी ठीक नहीं हो सकेगा। अतएव जीवात्मा उन्नति करने के स्थान अवनति करने लगेगा।

यहां अभिप्राय है कि इन उपायों से अर्थात् मन और बुद्धि से यदि पुरुष ठीक प्रकार से यत्न करता रहे तो मंत्र में कहे परम धाम को प्राप्त हो सकेगा।

ब्रह्म लोक को प्राप्त होगा—ऐसा मंत्र में लिखा है। ब्रह्म लोक का अभिप्राय कार्य-जगत् है। यही ब्रह्मा का बनाया धाम है। इसका अर्थ यह बनता है कि वह मनुष्य विद्वान् हो जायेगा। शरीर से मुक्त होने पर पूर्ण कार्य-जगत् में घूम फिर सकेगा। इस पर भी मोक्ष धाम पृथक् है।

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः।
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥ ५ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ—ऐसा (आत्मा) जो ज्ञान प्राप्त कर तृप्त हो, रागादि दोषों से छुटकारा पाये हुए हो और शान्त, धीर सर्वत्र जाने का सामर्थ्य रखने वाला हो, सब ओर से प्राप्त करने के योग्य धीर युक्त हो, वह सबमें ही प्रवेश पा जाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि, ऊपर के मंत्रों में जिस जीव के विषय में कहा है, वह पूर्ण सामर्थ्य को प्राप्त कर लेता है।

ऐसा जीवात्मा पूर्ण ब्रह्म धाम में जहां चाहे जा सकता है और वहां जिस वस्तु के भीतर जाना चाहे जा सकता है।

Central Library
167870
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ ६ ॥

अर्थ—वेदान्तविज्ञ (वेद में कहे सर्वोच्च ज्ञान से जिन्होंने निश्चय से ज्ञान प्राप्त कर लिया है वे), सबसे विरक्त और ज्ञान प्राप्त यज्ञ (निष्काम भाव से कर्म) करते हुए अमृत लोकों को प्राप्त कर सबसे उच्च स्थान को प्राप्त कर लेते हैं।

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥ ७ ॥

अर्थ—उसकी पन्द्रह कला अपने-अपने देवता में लीन हो जाती हैं। उसके कर्म विज्ञानमय हो जाते हैं। उनका आत्मा परम अव्यय (परमात्मा) में एक हो जाता है।

पन्द्रह कला का अभिप्राय है दस ज्ञान और कर्मेन्द्रियां तथा पांच वायुएं। ये वायुएं महाप्राण के नाम से भी विख्यात हैं। इन पन्द्रह से ही शरीर के सब कार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलते हैं। उपनिषद्कार कहता है कि सब पन्द्रह अपने-अपने देवता अर्थात् जहां से वे मनुष्य शरीर को प्राप्त होती थीं, वहां लौट जाती हैं और जीवात्मा निष्कल (कला रहित) होकर परम् पुरुष में स्थित हो जाता है। उसके साथ एकमय हो जाता है।

इसको समझाने के लिये, इस अवस्था का ज्ञान कुछ अन्य ऋषियों ने भी कराया है। ब्रह्मसूत्रों के रचयिता व्यास मुनि कहते हैं कि उस अवस्था में भी जीवात्मा सूंघता, स्वाद लेता, देखता इत्यादि है। सूत्र है—

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥

(ब्र० सू० ४-४-११)

इस सूत्र का अर्थ है—जैमिनी ऋषि का कहना है कि जीवात्मा का अस्तित्व रहता है, विकल्प का मनन करने से।

विकल्प का मनन करने से का अभिप्राय यह है कि जीवात्मा का विकल्प उसका वदल भिन्न बना रहने से, यह समझ आता है कि उसका अस्तित्व बना रहता है।

इसी विषय में छान्दोग्योपनिषद् में भी कुछ इसी प्रकार से लिखा है—

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानहयैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भाव-तिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्त-मात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदँ सर्वमिति।

(छान्दोग्योपनिषद् ७-२६-१)

इसका अर्थ है—उस (मुक्त जीवात्मा) का निश्चय रूप में इस प्रकार देखने वाले तथा मनन करने वाले के लिये आत्मा से प्राण, आत्मा से आशा, आत्मा से स्मृति, आत्मा से आकाश, आत्मा से बल, आत्मा से विज्ञान, आत्मा से ध्यान, आत्मा से नाम, आत्मा से मंत्र, आत्मा से कर्म और आत्मा से ही सब हो जाता है।

जैमिनी और छान्दोग्योपनिषद् का मत है कि यद्यपि आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाता है, परन्तु वह सब कुछ, जो उन कलाओं से होने वाला था, वह आत्मा स्वयं ही करने के योग्य हो जाता है।

विना इन्द्रियों के यह कैसे हो जाता है? इस विषय में भी ब्रह्मसूत्र में कहा है—

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥

ब्र० सू० ४-४-१३ ॥

अर्थ—तन (शरीर) का अभाव तो होता है परन्तु इन्द्रियों के संधि स्थान उपस्थित होते हैं। अर्थात् जीवाामा जिस स्थान से इन्द्रियों से संयुक्त था, उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थान से ही वह इन्द्रियों के गुणों का स्वादन करता है।

इस कारण हम समझते हैं कि उपनिषद् का निश्चय से यह अभिप्राय नहीं कि इन्द्रियों के न रहने से इन्द्रियों के कर्म भी नहीं रहते। जीवात्मा उन सब कर्मों को कर सकता है जो वह इन्द्रियों की सहायता से करता था।

व्यास मुनि का यह कहना है कि मुक्त जीवात्मा का शरीर तो नहीं रहता, परन्तु उसके सुख अनुभव करने का सामर्थ्य बना रहता है। वह इस कारण कि वे संधिस्थान जीवात्मा में रहते हैं जहां पहले इन्द्रियां इससे युक्त थीं। छान्दोग्यपनिषद् का भी यही मत है।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ ८॥

अर्थ—जिस प्रकार नित्य बहती हुई नदियां अपने-अपने नाम रूप को त्याग कर समुद्र में लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी आत्माएं अपने नाम और रूप से मुक्त होकर अपने से ऊपर दिव्य पुरुष (परमात्मा) को प्राप्त हो जाती हैं।

उपनिषद्कार के कथन का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि समुद्र में नदियां मिलकर अपना नाम और रूप खो देती हैं। समुद्र में मिली हुई नदी को पृथक् से बताया नहीं जा सकता। इसी प्रकार जब जीवात्मा मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है तो वह परमात्मा से ऐसे घुल मिल जाता है कि उसको परमात्मा से पृथक् पहिचाना नही जा सकता।

इससे उपनिषद्कार का मत यह प्रतीत होता है कि मुक्त जीवात्मा परमात्मा रूप ही हो जाता है। सम्भवतः उपनिषद्कार के इसी भाव से स्वामी शंकराचार्य यह समझे है कि जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं। उपाधि से अर्थात् उसकी अज्ञानता एवं संसार में लिप्त होने के कारण वह पृथक् अनुभव करने लगता है, अथवा पृथक् दिखाई देने लगता है।

इसमें ब्रह्मसूत्रों का मत भी हमने बता दिया है। वह यह कि जीवात्मा जिन स्थानों से इन्द्रियों से युक्त था, उन स्थानों की उपस्थिति से इन्द्रियों के स्वाद लेता रहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम समझते हैं कि उपनिषद्कार का यह मत नहीं कि मुक्ति प्राप्त करने पर जीवात्मा का अस्तित्व नहीं रहता। उसके कथन का अभिप्राय केवल यह है कि रूप और नाम से उनको परमात्मा से पृथक् नहीं जाना जा सकता। परन्तु रूप और नाम ही तो किसी पदार्थ का सब कुछ नहीं हैं। रूप और नाम के अतिरिक्त भी गुण होते हैं जो पदार्थ-पदार्थ को पृथक्-पृथक् करते हैं।

नाम और रूप में वे मुक्त आत्माएं परमात्मा के समान हो जाती हैं परन्तु अन्य गुणों में वे परमात्मा से भिन्न रहती हैं। वे अन्य गुण क्या हैं? इस विषय ब्रह्मसूत्र में कहा है—

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥

(ब्र० सू० ४-४-१८)

प्रत्यक्ष के उपदेश से यह कहा जाता है कि (दोनों में अन्तर है); यदि यह न मानो तो अधिकार मण्डल में रहने की स्थिति कहने से है। इसका अभिप्राय यह है कि मुक्तावस्था में भी जीवातमा अपने मण्डल में ही सीमित रहता है। मोक्षावस्था में भी वह अपने अधिकार में ही सीमित रहता है।

इस अधिकार की बात ही इससे ऊपर के सूक्त में कही है। वहां कहा है—

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥

(ब्र० सू० ४-४-१७)

जगत् व्यापार (जगत् रचना प्रलयादि व्यवहार) को छोड़कर और सब साथ रहने से प्राप्त हो जाता है।

अर्थात् यह माना जाता है कि जगत् निर्माण की शक्ति मुक्त जीवात्मा में भी नहीं आती।

हमारा यह मत है कि जहां तक उपनिषद्कार ने कहा है वहां तक ही ठीक है। उससे अधिक नहीं। अभिप्राय यह कि मुक्त जीवात्मा मोक्षावस्था में अपने रूप और नाम को खो देता है। इस पर भी अन्य गुणों से वह परमात्मा से भिन्न रहता है।

जो उदाहरण दिया है, वह भी यही बताता है। नदियां सागर में विलीन हो जाती हैं। नदी का नाम नहीं रहता परन्तु नदी की विशेषता उसके जल में रहती है।

उदाहरण के रूप में हुगली का जल समुद्र से पृथक् देखा जाता है। कुछ दूर जाकर हुगली का समुद्र से पृथक् नहीं देखा जा सकता। इस पर भी हुगली का कचरा तो रहता ही है। वह केवल मात्र सागर में मिलने से लोप नहीं हो गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स यो ह वै तत्परंम ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥ ॥ ९ ॥

अर्थ—जो कोई ब्रह्म को जान लेता है वह मानो ब्रह्म ही हो जाता है। उसके कुल में कोई ब्रह्म को न जानने वाल नहीं होता। वह शोक को तर जाता है, पाप को पार कर जाता है और हृदय ग्रन्थियों से मुक्त होकर अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।

हमने 'ब्रह्मैव भवति' का अर्थ किया है कि मानो ब्रह्म-ही हो जाता है। ब्रह्मैव का अर्थ है ब्रह्म की भांति। इस विषय में ऊपर ब्रह्मसूत्र के प्रमाण (४-४-१७) से बता चुके हैं कि जगत् व्यवहार अर्थात् जगत्-उत्पत्ति, पालन और प्रलय के कार्य जीवात्मा नहीं कर सकता। परमात्मा तथा जीवात्मा में प्रत्यक्ष अन्तर है।

इसी प्रकार इस उपनिषद् में कहा है, 'अमृतो भवति' अर्थात् वह अमर हो जाता है। उसका अभिप्राय है कि सामान्य स्थिति से उसका जीवन बहुत ही लम्बा हो जाता है। ब्रह्मसूत्रों में भी कहा है—

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह॥

(ब्र० सू० ४-४-१९)

अर्थात्—निश्चय से (उस जीवात्मा की) विकार वाली स्थिति होती है।

विकार का अभिप्राय है बदलने वाली। जो स्थिति बदलती है उसका अन्त होता है। इस कारण सदा के लिये अमरत्व नहीं होता। हां, बहुत लम्बे काल के लिये मोक्ष प्राप्त रहता है।

क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः
स्वयं जुह्वत एकर्षि श्रद्धयन्तः।
तेषामेवैषां ब्रह्मविद्यां वदेत
शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्॥ १० ॥

अर्थ—जो अधिकारी, क्रियावान्, श्रोत्रीय, ब्रह्मनिष्ठ एकर्षि यज्ञ को स्वयं करने वाला, श्रद्धावान् हो, उनको यह ब्रह्म विद्या कहो। जो विधिवत् शिरोव्रत करने वाला हो उसे ही यह (ब्रह्म विद्या) कहनी चाहिये।

क्रियावान् का अभिप्राय है कार्य कुशल अर्थात् निष्काम भाव में कार्य करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में कुशल, वेद पाठ करने वाला;, श्रुत का अर्थ है सुना हुआ अथवा सुनाया हुआ जो सुनाता है (अर्थात् वेदपाठ करता है); ब्रह्मनिष्ठ का अभिप्राय है जो परमात्मा में अगाध विश्वास रखता है। ऐसे व्यक्ति को ब्रह्म विद्या बतानी चाहिये। प्रश्न है क्या बताने से लोग ब्रह्म की प्राप्ति का सामर्थ्य पा जायेंगे? हमारा मत है कि नहीं।

इनके साथ अन्य गुण भी होने चाहियें। वे हैं जो विधि विधानानुसार शिरोव्रत का करने वाला है। शिरोव्रत का अभिप्राय हम यह समझते हैं कि मस्तक के अग्र भाग में भवों के बीच ध्यान लगाने में जो कुशल है।

इसी प्रकार एकर्षि यज्ञ का अभिप्राय है कि किसी एक ऋषि की सेवा कर उससे ज्ञान प्राप्त करना है।

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते।
नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः॥ ११॥

अर्थ—इस सत्य को ऋषि अंगिरा ने पूर्वकाल में कहा था। जिसने शिरोव्रत का पालन नहीं किया वह इसका अधिकारी नहीं। उन महान् विद्वान ऋषियों को नमस्कार हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुण्डक उपनिषद् का सारांश

यह प्रथा है कि प्रत्यक उपनिषद् के कथन से पूर्व ऋषि शान्तिपाठ कहता है। प्रश्न यह है कि कौन कहता है और किसको कहता है? शंकराचार्य यह मानते हैं कि विश्व में एक ब्रह्म ही है, वह ब्रह्म जिसे परमात्मा कहते हैं। और जो कुछ दिखाई देता है वह अध्यास है।

अतः प्रश्न उपस्थित होता है 'अध्यास' क्या है? इस शब्द के अर्थ स्वामी शंकराचार्य समझाते हैं। वह अपने वेदान्तदर्शन के भाष्य के उपोद्घात में लिखते हैं--

"कोऽयमध्यासो नामेति। उच्यते—स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।
तं केचित्—अन्यत्रान्यधर्माध्यास—इति वदन्ति।"

अर्थात् अध्यास क्या है? इस पर कहते हैं—स्मृति रूप पूर्व दृष्ट का अन्य में अवभास (प्रतीति) ही अध्यास है। कुछ लोग एक में दूसरे के धर्म के आरोप को अध्यास कहते हैं।

ऊपर कथन के आगे श्री स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं—

केचित्तु —यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम—इति।

अन्ये तु —यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते—इति।

अर्थात्—कुछ लोग कहते हैं कि जिसमें जिसका अध्यास है उसका भेदाग्रह निमित्तक भ्रम अध्यास है। अन्य लोग तो जिसमें जिसका अभ्यास है उसमें विरुद्ध धर्मत्व की कल्पना को अध्यास कहते हैं।

संक्षेप में अध्यास भ्रम है। किसी वस्तु में किसी दूसरी कल्पित का होना मान लेना। मनुष्य अपने में जीवात्मा का होना मान लेता है। वास्तव में है नहीं। यहां तक कि मनुष्य अपने शरीर को मान लेता है, हाथ पांव इत्यादि अवयव को देखता है। यह अध्यास, कल्पित ही है।

हम समझते हैं कि यह स्वामी जी का भ्रम है कि वह इस चराचर जगत् को और जीवात्मा को भी भ्रम मानने लगे हैं।

कम-से-कम उपनिषद्कार अपने से किसी अन्य को मानता है। तभी तो उससे अपने कल्याण की याचना की है। जब उसने कहा है कि देवताओ! हम कानों से कल्याणकारी सुनें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस कथन से ही तीन पदार्थों को स्वीकार करना पड़ता है। एक कल्याण की याचना करने वाला, दूसरे कर्ण इत्यादि इन्द्रियां, तीसरा जिससे याचना की गयी है।

कहा जा सकता है कि यह भ्रम ही है। प्रश्न उपस्थित होता है कि किसको भ्रम हुग्रा है ? वह भ्रम किसके विषय में है ?

उपनिषद्कार ऋषि ऐसा नहीं मानता। तभी तो ग्रपना प्रवचन ग्रारम्भ करने से पूर्व परमात्मा को सबसे पहले स्मरण करता है।

हमारा निश्चित मत है कि ऋषि परमात्मा से ग्रपने को भिन्न मानता है।

यदि ऐसा नहीं माने तो यह शान्ति पाठ निरर्थक हो जायेगा।

उपनिषद्कार कहता है—सब देवताग्रों से पहले ब्रह्मा उत्पन्न हुग्रा। ब्रह्मा परमात्मा की शक्ति थी जो रचना ग्रारम्भ होने से पहले सुषुप्ति (ग्रवातम्) ग्रवस्था में थी। यह उत्पन्न हुई। यह शक्ति न केवल निर्माण करती है वरन् निर्माण किये हुए की रक्षा भी करती है।

ब्रह्मा, जिसने रचना कार्य किया ग्रौर उस रचना की रक्षा की, वह महान् विद्वान् भी था। उसने ग्रपनी विद्या ज्येष्ठ पुत्र ग्रथर्वा को कहीं, ग्रथर्वा ने वह विद्या ग्रंगी को, ग्रंगी ने सत्यवह को कही। भारद्वाज सत्यवह के परिवार में थे। इस कारण यह विद्या उसके पास चली गयी। ग्रौर उसने यह विद्या ग्रङ्गिरा को दी।

ब्रह्मा परमात्मा की शक्ति है ग्रौर परमात्मा सर्वज्ञ होने के कारण महान् विद्वान् था। इसी कारण ब्रह्म शक्ति को ज्ञानवान् कहा है। यह ज्ञान उसने ग्रथर्वा को दिया। ग्रर्थर्वा को हम इन्द्र मानते हैं।

ग्रङ्गिरा ने यही विद्या शौनक को कही। शौनक ने इस उपनिषद् में लिख दी है। कहा है कि इसको जान लेने से मनुष्य सब कुछ जो जानने योग्य है, जान लेता है।

दो विद्याएं हैं जो जानने योग्य हैं। एक का नाम परा है ग्रौर दूसरी का नाम ग्रपरा है। ऋक्, यजुः, साम ग्रौर ग्रथर्व वेद में जो शिक्षा, कल्प, ज्योतिष, व्याकरण, निरुक्त ग्रौर छन्द में कही है, वह ग्रपरा है ग्रौर परा है जो ग्रक्षर के विषय में कही है। ग्रक्षर तीन हैं। प्रकृति, परमात्मा ग्रौर जीवात्मा।

इसके उपरान्त ऋषि ग्रक्षरों से ग्रारम्भ करता है। ग्रक्षरों में पहले प्रकृति का वर्णन करता है। मूल प्रकृति ग्रदृश्य है, ग्रग्राह्य है, ग्रगोत्र, ग्रवर्ण, चक्षु श्रोत्रादि हीन, ग्रपाणिपाद, नित्य विद्या, सब स्थान पर व्यापक, सूक्ष्म ग्रौर ग्रव्यय है। ये सब मूल प्रकृति के लक्षण कहे हैं।

यह कहा है जैसे मकड़ी जाले को बनाती है ग्रौर फिर ग्रपने में ही समेट लेती है, इसी प्रकार इस प्रकृति से यह चराचर जगत् बनता है ग्रौर प्रलय के समय इसी में विलीन हो जाता है। मूल प्रकृति—चराचर जगत्—मूल प्रकृति। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रक्रिया अनादि काल से चली आ रही है और अनन्त काल तक चलती रहेगी।

जब प्रकृति चराचर जगत् बना देती है तो ब्रह्मा—ईश्वरीय शक्ति पृथिवी पर वायु, जल, अन्न उत्पन्न कर देती है। कहा है ब्रह्मा तप से और ज्ञान से अन्न, प्राण, मन, सत्य, तदनन्तर लोक-कार्य और कर्मफल उत्पन्न करता है। इसका अभिप्राय है कि पृथिवी पर अन्न उत्पन्न करने के लिये जल तथा वायु पहले बने होंगे। तत्पश्चात् प्राण, प्राण से लोक अर्थात् प्राणी, और फिर प्राणी के न नाश होने वाले कर्मफल बन गये।

न नाश होने वाले का अभिप्राय है जो फल मिले बिना नहीं रह सकते। ये सब प्रकृति की ही उपज हैं।

इस पाद के अन्त में कह दिया है कि जो सर्वज्ञ है, सबको जानता है, उसने ही इस प्रकृति, जिसे वह पहले अक्षर कह चुका है, से जगत् बनाया है।

वेद मंत्रों से ऋषियों ने इस जगत् का ज्ञान प्राप्त किया। सत्य रचित जगत् है। ऋषियों ने परमात्मा के इस रचना यज्ञ को देख कर स्वयं यज्ञ किया, अर्थात् जगत् में लोक कल्याण के लिये रचना आरम्भ कर दी।

जब इस यज्ञ की लपटें उठने लगें अर्थात् उनका यज्ञ कार्य वेग से चलने लगे, उसमें अधिक आहुतियां दे। अर्थात् यज्ञ कार्य को और तीव्र किया जाये।

यह भी कहा है कि यज्ञ कर्म दर्श, मासिक चतुर्मासिक आग्रमण है। इसका अभिप्राय यह है कि अपने लोक कल्याण के कार्य का प्रतिदिन, एक मास के उपरान्त, पूर्णिमा को, चार मास के उपरान्त अथवा वर्ष में निरीक्षण करते रहना चाहिये और फिर उस कार्य में से दान-दक्षिणा देनी चाहिये। इस बीच में निरीक्षण इत्यादि के बीच में आज्याहुति देने के लिये कहा है।

यज्ञ की अग्नि अर्थात् कार्य में व्यय होने वाले परिश्रम के सात रंग बताये हैं। ये अग्नि के नाम हैं—(१) काली अर्थात् व्यवसायादि में लगी पूंजी। वह पूंजी जो प्रत्यक्ष में लाभ न दे। भवन, मशीन इत्यादि में व्यय किया धन है। (२) कराली है तलवार की भांति कार्य करने वाली बुद्धि। यह विश्लेषणात्मक कार्य करती है। (३) मनोजवा (मन की शक्ति)—अध्ययनशील अनुभवी व्यक्तियों का परिश्रम। (४) चौथी अग्नि कही है सुलोहित अर्थात् कर्मचारियों का परिश्रम। (५) पांचवी है सुधूम्रवर्णा—उन कर्मचारियों का कार्य जो अशिक्षित हैं। (६) स्फुलिंगिनी में माल का वितरण करने तथा बेचने वाले एजेण्ट, प्रतिनिधि दुकानदार इत्यादि आते हैं। इनकी तुलना चिनगारियों से की है। (७) सातवीं अग्नि है विश्वरुचि अर्थात् ग्राहक अथवा भोक्ता की रुचि।

यज्ञ करने वाले अर्थात् किसी व्यवसाय अथवा उद्योग करने वाले के लिये यह आवश्यक है कि अपने कर्म को चलाने के लिये इन सात शक्ति के रूपों की पालना करता रहे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो यजमान (यज्ञ करने वाला) अपने यज्ञ कर्म की अग्नि (शक्ति) की इन ज्वालाओं को पोषण करता रहता है वह यजमान इन अग्नियों से सुकृत लोकों में जाता है। अभिप्राय यह है कि उसे सफलता प्राप्त होती है और ये अग्नियां कहती हैं कि हे यजमान! यह तुम्हारे कार्य का ही फल है।

इस खण्ड (१-२) के अन्त में उपनिषद्कार कहता है कि सब मानव कर्म और संसार के हो रहे प्राकृतिक कर्मों का करन-कारण परमात्मा ही है। प्रकृति से बनने वाले जगत् को बनाने वाला वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा है और यजमान के कार्य की सफलता देने वाला भी वही है।

अंत में कह दिया है कि इस संसार में जो लोग जीवन में अठारह प्रकार के यज्ञों मे लगे रहते हैं वे जन्म-जन्मान्तर तक इसी लोक में भटकते रहते हैं।

ये यज्ञ करने वाले अविद्या में व्यवहार करने वाले हैं अर्थात् उनका पूर्ण व्यवहार केवल मात्र धनोपार्जन अथवा सांसारिक ऐश्वर्य प्राप्त करना है। वे लोग अपना अकल्याण करते हैं।

हम समझते हैं कि इस लोक में कर्म अपने आत्मा के कल्याण के लिये करने चाहियें। सांसारिक कार्य में भी उद्देश्य आत्मोन्नति ही होना चाहिये।

कहा है कि जो लोग तपस्वी हैं, श्रद्धा से काम करते हैं, शान्त चित्त हैं और भीड़-भाड़ से पृथक् रहते हैं, कर्म की सफलता में धर्म मानने वाले, स्वर्गधाम अर्थात् श्रेष्ठ जन्मों में स्थान पाते हैं।

संसार में अभ्युदय प्राप्ति कुछ नहीं। वास्तविक उन्नति है आत्मा की। उसके लिये ही यत्न करना चाहिये। उपनिषद्कार अपनी शिक्षा को ब्रह्म विद्या कहता है।

: २ :

उपनिषद्कार कहता है सृष्टि आरम्भ में परमात्मा ने ऋषियों को वेदों के पद दिये। ऋषियों ने उन पदों को समझा और उनके अनुसार यज्ञ की विधि निकाली। और फिर इन यज्ञों को त्रेता युग में बहुत विस्तार दिया गया।

हम इसका अभिप्राय यह समझे हैं कि मंत्रों में परमात्मा ने सिद्धान्त (fundamentals) का वर्णन किया है। सिद्धान्तात्मक बात को ऋषियों ने व्यवहार में लाने का यत्न किया। वह यत्न था तकनीकी (technical) आविष्कार। इसे यज्ञ इस कारण कहा जाता है क्योंकि मंत्रों के आधार पर इसका विस्तार हुआ और इससे जो कुछ भी निर्माण हुआ वह जन-जन के कल्याण के लिये था।

इस मुण्डक में एक अन्य अक्षर का वर्णन है। वह अपूर्व, दिव्य, बाहर और भीतर विद्यमान है। अजन्मा, अचलायमान, मनहीन और श्रेष्ठ अक्षरों से भी श्रेष्ठ है। स्पष्ट है कि उपनिषद्कार एक से अधिक अक्षरों की कल्पना करता है। यहां वह अक्षर-अक्षर में अन्तर बता रहा है। मन प्रकृति के महत् रूप का एक अणु माना जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन अक्षरों में भी जो श्रेष्ठ है उससे प्राण, मन, इन्द्रियां, अहकार, वायु, तेज, बल और पृथिवी उत्पन्न होते हैं। यह अन्य अक्षर से चार पाद वाला जगत् का निर्माण करता है।

रचित जगत् को वह अक्षर ब्रह्म बनाता है।

इस अक्षर से ही वह अग्नि उत्पन्न होती है जो सूर्य में समिधाओं की भांति जलती है। उस अक्षर की शक्ति का नाम सोम है। उससे ही सब कल्याणकारी सुखकारक पदार्थ बनते हैं।

यह कहा है कि इस अक्षर ब्रह्म से जिसे परमात्मा कहा जाता है, सम्पूर्ण यज्ञ (रचना कार्य) ऋक्, यजुः, साम और अथर्व वेद, सब क्रतु (कर्म) दक्षिणा इत्यादि उत्पन्न हुए हैं। वह इनका निमित्त कारण है।

परमात्मा से ही सब देवताओं की सृष्टि होती है। साध्य मनुष्य, पक्षी, सब उससे ही उत्पन्न हुए हैं। परमात्मा से सात प्राण, सात अग्नियां और परमात्मा से ही सात विषय उत्पन्न हुए हैं। जगत् के सब पदार्थ भी उसी से हुए हैं। अतः इस संसार में कर्म करने की शक्ति सब उसी की है। जो उस परमात्मा को जान लेता है, उसके हृदय की ग्रन्थियां खुल जाती हैं। यहां हृदय से अभिप्राय मस्तिष्क है। अभिप्राय यह है कि मस्तिष्क में जो उलझनें अर्थात् न समझ में आने वाली समस्यायें हैं, सुलझ जाती हैं।

परमात्मा के अमृत (सदा रहने वाले) नियमों का जो धाम है, अर्थात् यह जगत् में व्योम, जीवात्मा वहां पहुंच सुख पाने लगता है। परमात्मा जहां जगत् के पदार्थों को उत्पन्न करने वाला है वहाँ वह मनुष्य को जन्म देने वाला भी है। सब जन्तु उससे उत्पन्न किये जाते हैं। सब पदार्थ अक्षर ब्रह्म से ही पैदा होते हैं। यहां तीनों से अभिप्राय ब्रह्म है। एक प्राणी में तीनों ब्रह्म इकट्ठे कार्य करते देखे जाते हैं।

इसी मुण्डक में यह बताने का यत्न किया है कि ब्रह्म एक प्राणी में किस प्रकार रहता है। यह कहा है कि प्राणी का शरीर, उसमें की इन्द्रियां और उसमें कार्य करने वाला प्राण एक अन्य अक्षर को अर्पण किये गये हैं। शरीर और इन्द्रियां तो प्रकृति का रूप रूपान्तर हैं। प्राण परमात्मा का अंश है और इन दोनों का प्रयोग करने वाला एक अन्य अक्षर है। उसे जीवात्मा कहते हैं।

जो प्राणी में प्राण है वह परमात्मा के तेज का अंश है। परमात्मा अक्षरों में सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। वह पूर्ण व्योम में व्यापक है। इस परमात्मा को प्राप्त करना चाहिये। इसे प्राप्त करने के लिये 'ओं' शब्द के जाप से लक्ष्य ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति की जा सकती है। उसका ठीक और अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करने से ही मोक्ष प्राप्ति सम्भव है। उस ब्रह्म 'ओं' में अन्तरिक्ष पृथिवी सब समाया हुआ है। जैसे रथ की नाभि रथ के चक्र से अरों से जुड़ी है, वैसे ही जीवात्मा शरीर के मस्तिष्क

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की गुहा में रहता हुआ पूर्ण शरीर से नसों के द्वारा जुड़ा हुआ है। परन्तु इन नसों में कार्य करने की शक्ति परमात्मा की है। शरीर में काम करने वाला वही परमात्मा है जो पूर्ण व्योम में व्यापक है। जीवात्मा जब इस आत्म-तत्त्व को जान लेता है तो उसके हृदय की सब गांठें खुल जाती हैं। गांठों का अभिप्राय हम बता चुके हैं। बुद्धि की सीमाएं नहीं रहतीं। यह इस कारण कि वह (परमात्मा) वहां तक रहता है जहां सूर्य, चन्द्र, तारागण नहीं पहुंच सकते। अर्थात् इस बने हुए जगत् से भी दूर बाहर तक वह परमात्मा विद्यमान है। वह ब्रह्म आत्मा ही आगे-पीछे, ऊपर-नीचे सब ओर विद्यमान है।

उपनिषद् के तीसरे मुण्डक में तीनों ब्रह्मों का जगत् में परस्पर सम्बन्ध वर्णन किया है। प्रकृति रूपी वृक्ष पर दो आत्म तत्त्व बैठे हैं। एक उस वृक्ष के फल खाता है और दूसरा केवल देखता ही है।

जीवात्मा परमात्मा के साथ ही प्रकृति रूपी वृक्ष पर बैठा है। अल्पज्ञ होने के कारण जीवात्मा प्रकृति के स्वादों में लीन प्रकृति का भोग करने लगता है। और वह उसके मोह में फंस जाता है। परन्तु जब वह परमात्सा की ओर देखता है तो उसकी भांति प्रकृति से निर्लेप होने का यत्न करता है। जब निर्लेप हो जाता है तब शोक-मोह इत्यादि दोषों से रहित हो जाता है। तब वह परमात्मा के स्थान ब्रह्म लोक को देख लेता है। परमात्मा से ही उसमें कर्म करने की सामर्थ्य आती है। तब वह जान जाता है कि वह अपने सब क्रिया-कलापों में उसके ही आश्रय है। ऐसा जान लेने वाला जीवात्मा सबके साथ समान व्यवहार करने लगता है।

परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये परमात्मा के बनाये जगत् का ज्ञान प्राप्त करना है। उसके नियम इस जगत् में भी कार्य कर रहे हैं। इस कारण जगत् को ठीक ठीक समझना ही परमात्मा को समझना है। परमात्मा को समझ कर ही ऋषि आप्त-काम हो जाते हैं अर्थात् सब कामनाओं को प्राप्त कर लेते हैं।

परमात्मा देखा, सुना अथवा इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता। वह अनुभव अर्थात् तर्क का विषय है।

यह परमात्मा प्राणी के शरीर में प्राणों के रूप में प्रविष्ट हो काम करता है। तब प्राणी में चेतना आ जाती और उसमें उपस्थित जीवात्मा प्रकाशित हो जाता है। प्रकाशित हो जाने का अभिप्राय यह है कि दिखाई देने लगता है। अर्थात् जीवात्मा परमात्मा के प्राणों से ऐसे प्रत्यक्ष हो जाता है जैसे दीपक के प्रकाश से कोई वस्तु प्रकाशित हो जाती है।

विशुद्ध आत्मा जिस जिस लोक की भावना (इच्छा) करता है, वहां ही उसका जन्म हो जाता है। इसका अभिप्राय है कि आत्मा यत्न करने से जैसी अवस्था प्राप्त करना चाहे प्राप्त कर लेता है।

इसी (तृतीय) मुण्डक के दूसरे खण्ड में कहा है कि ज्ञानवान आत्मा यत्न करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से जैसा भी स्थान चाहे प्राप्त कर लेता है। उसकी सब कामनाएं इस लोक में ही पूरी हो जाती हैं।

परमात्मा का ज्ञान वहुत पढ़ने से प्राप्त नहीं होता। इसके लिये उसकी उपासना करनी पड़ती है। उपासना का अभिप्राय है समीप बैठना। इसी का दूसरा नाम योग है। इसके अभ्यास को योगाभ्यास कहते हैं।

उपासना के लिये शरीर से, स्वस्थ मन से, स्वच्छ बुद्धि से एकाग्रचित होने की आवश्यकता है। ऐसा मनुष्य ही योगाभ्यास में सफलता प्राप्त करता है।

दुर्बल शरीर, मन और बुद्धि से जीवात्मा ब्रह्म-धाम की यात्रा नहीं प्राप्त कर सकता। शरीर-मन और बुद्धि साथ तो नहीं जाते। वे ऐसे ही आत्मा की सहायता करते हैं जैसे सुदृढ़ नौका मनुष्य को नदी पार करा देती है। नौका साथ नहीं जाती।

जो मनुष्य नदी को पार कर जाता है वह ब्रह्म लोक में पहुंच जाता है।

वहां पहुंचने के लिये वेदान्त का अर्थात् वेद का उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। ब्रह्म लोक में जाने वाला अर्थात् मुक्त जीवात्मा पन्द्रह कला वाले शरीर को छोड़ कर परमातमा में लीन हो जाता है। यह मुक्त जीव सर्व-व्यापक परमात्मा के साथ जहां जहां वह है, वहां वहां तक पहुंच जाता है। वह आनन्द भोगता है और परमात्मा समान ही हो जाता है।

उसमें परमात्मा की वह शक्ति नहीं आती जो सृष्टि-रचना करने वाली है। अर्थात् सर्वशक्तिमान् परमात्मा की सब शक्ति नहीं आती।

जैसे अनेकों नदियां समुद्र में विलीन हो अपना रूप और अपना नाम खो देती हैं, वैसे ही जीवात्माएं परमात्मा में लीन होने पर अपना-अपना रूप और नाम छोड़ देती हैं। परन्तु नदियों का जल तो पृथक् रहता है। वह रूप और नाम से पृथक् है।

कहा है ऐसा जीवात्मा मानो ब्रह्ममय ही हो जाता है। इसका अभिप्राय है कि देखने में वह ब्रह्म दिखाई देने लगता है। जैसे नदी का जल समुद्र का जल ही दिखाई देने लगता है।

उपनिषद्कार का कहना है कि यह ब्रह्म विद्या अधिकारी को ही देनी चाहिये।

अधिकारी कौन है? वह जिसने शिरोव्रत लिया हुआ है। शिरोव्रत का अभिप्राय है कि परमात्मा की इस अग्नि को शिर में धारण किया हुआ है। अर्थात् जो शिर के अग्र भाग में मस्तक पर भवों के बीच में ध्यान केन्द्रित करने का अभ्यास रखता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माण्डूक्य उपनिषद्

ओमित्येतदक्षरमिद ँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ।। १ ।।

अर्थ—ओं (परमात्मा) अक्षर है। सब उसका ही व्याख्यान (वर्णन) है। भूत, वर्तमान और भविष्य यह सब भी ओंकार (परमात्मा) ही है। और जो कुछ अन्य (इन) तीनों कालों के बाहर है, वह भी परमात्मा ही है।

सामान्य दृष्टि से तो ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषद्कार ने यह कहा है कि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य अक्षर नहीं। इसका अभिप्राय है यह कि परमात्मा से अन्य कोई तत्त्व अनादि और सदा रहने वाला नहीं है।

परन्तु यह कैसे कहा गया माना जा सकता है, जब अनेक अन्य स्थानों पर (शास्त्र और वेदों में) यह बताया है कि अनादि तत्त्व तीन हैं। उदाहरण के रूप में भगवद्गीता १३-१६, २०, २१, २२ में स्पष्ट कहा है कि प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं।

भ० गी० १३-१, २ में भी कहा है कि यह शरीर क्षेत्र है और इसको जानने वाला क्षेत्रज्ञ है।[1]

भगवद्गीता के १५वें अध्याय में भी कहा है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।

(भ० गी० १५-१६, १७, १८)

---

१. (विस्तृत विवेचन के लिये देखें मण्डकोपनिषद २-१-१० की टिप्पणी।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—इस संसार में दो पुरुष हैं। एक क्षरित होने वाला और दूसरा अक्षर। पंच महाभूत क्षर है और वह जो शरीर की गुहा में है, वह अक्षर है।

उत्तम पुरुष अन्य है। वह परमात्मा कहा जाता है, जो तीनों लोकों में व्याप्त होकर धारण और पोषण करता है। वह अव्यय ईश्वर है।

अतः ऊपर मंत्र में यह नहीं कहा कि भूत, वर्तमान, भविष्य, सब कुछ परमात्मा है। वहां अभिप्राय यह है कि ये सब कुछ परमात्मा की उपस्थिति का वर्णन करते हैं।

अतः ओंकार परमात्मा का नाम है। यह शब्द स्वयं परमात्मा नहीं। इस पूर्ण उपनिषद् में ओं शब्द (अ—उ—म्) की ही तुलना किसी से की है। क्योंकि 'ओं' लिखा शब्द परमात्मा नहीं। इस कारण वह, जिससे इसकी तुलना की है, वह भी परमात्मा नहीं हो सकता।

हमारा निश्चित् मत है कि यह उपनिषद् परमात्मा के विषय में नहीं है। यह उसके विषय में है जिसकी तुलना (अ, उ, म्) से की है। वह क्या है? वह अगले मंत्र की व्याख्या में स्पष्ट करेंगे।

वेद का उदाहरण हम मुण्डक उपनिषद् (मु० ३-१) में दे आये हैं। अतः हम समझते हैं कि ऊपर के उपनिषद् का अर्थ है कि यह जगत् जो रचित है, वह परमात्मा से ही बना है। जगत् का भूत, वर्तमान और भविष्य परमात्मा की महिमा का ही वर्णन है और जो इन तीनों कालों से बाहर है, वह भी उसी के अधीन है।

तीनों कालों से बाहर का अभिप्राय है वह स्थान जहां काल-गणना नहीं हो सकती। काल की गणना करने के लिये कोई प्रारम्भिक बिन्दु होना चाहिये।

रचित-जगत् में तो यह प्रारम्भिक बिन्दु है वह समय, जब परमात्मा के तेज ने प्रकृति के परमाणु पर प्रभाव डालना आरम्भ किया था। परन्तु जहां रचना नहीं हुई वहां काल गणना के लिए प्रारम्भिक बिन्दु (starting point) नहीं हैं। अतः वहां भूत, भविष्य और वर्तमान नहीं है। वह स्थान कालातीत है। वहां भी उसी परमात्मा का आधिपत्य है।

ब्रह्म सूत्रों में कहा है—

अक्षरमम्बरान्तधृतेः॥ १-३-१०॥
सा च प्रशासनात्॥ १-३-११॥

अर्थात्—अक्षर जो आकाश के अन्त तक धारण करने वाला है (वह परमात्मा है)। वही सबका आश्रय है और प्रशासनकर्त्ता है।

अतः मन्त्रार्थ इस प्रकार है—'ओं' यह एक (भाषा का) अक्षर है। उसकी (तुलना में ही) जगत् का व्याख्यान है। भूत, भवद् और भविष्य सब (अवस्थायें)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओंकार (के समान) हैं और (वह स्थान जो) कालातीत है, वह भी ओंकार (के समान) ही है।

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ।। २ ।।

अर्थ—निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म है। यह आत्मा महान् है। यह आत्मा चार पाद वाला है।

(आत्मा का अर्थ है सार, तत्त्व; पाद का अर्थ है अवस्थायें।)

यह सब कुछ और जो पहले मंत्र में कालातीत कहा है, अर्थात् जगत् और व्योम (जहां रचना नहीं हो रही), वह ब्रह्म कहाता है। ब्रह्म क्या है? ब्रह्म वह है जो महान् है। उसका वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार किया है—

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ।।

(१-१२)

अर्थात्—भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (प्रकृति) और प्रेरितारं (प्रेरणा देने वाला परमात्मा) तीन प्रकार का ब्रह्म माना जाता है।

साथ ही उपनिषद् में कहा है कि यह महान् ब्रह्म है। महान् ब्रह्म के विषय में कहा है—

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते
अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।।
उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म
तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च ।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा
लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ।।

(श्वेता० १-६, ७)

अर्थात्—सब जीव महान् ब्रह्म चक्र में स्थित और भ्रमते रहते हैं। ऊपर कहे हुए उस (ब्रह्म चक्र) परम ब्रह्म में तीन अक्षर प्रतिष्ठित हैं। उसी में ब्रह्म ज्ञानी (ब्रह्म में लीन) भी रहते हैं जो जन्म-मरण से मुक्त हैं।

इस प्रकार जो उपनिषद् वाक्य (माण्डू०—२) में कहा है कि इस ब्रह्म का जो आत्मा (सार) है, वह महान् है यह, ब्रह्म चक्र के विषय में ही कहा है जो श्वेताश्वतर उपनिषद् में महान् ब्रह्म कहा है, जिसमें तीन अक्षर (श्वेता० १-१२) प्रतिष्ठित हैं।

अर्थात्—उपनिषद्कार कह रहा है कि यह रचित जगत् परम ब्रह्म है और इसके चार पाद हैं। पाद के दो अर्थ हैं—पग तथा आश्रय स्थान। पाद का अर्थ किसी परिवर्तन क्रिया में अवस्थाएं (stages) भी हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम यहां पाद का अर्थ अवस्थाएं ही मानते हैं। इस कारण कि अगले मंत्रों में इनको 'स्थाने' भी कहा है। वहां स्थान का अभिप्राय भी अवस्था ही है। यहां तो इतना समझना चाहिए कि पाद और स्थान पर्यायवाचक शब्द हैं। स्थान का अर्थ हम अगले मंत्र में समझायेंगे। पाद को अवस्था कहा है। महान् ब्रह्म की चार अवस्थाएं मानी हैं। अभिप्राय यह है कि परम ब्रह्म है रचित जगत्, जिसमें तीन अक्षर प्रतिष्ठित हैं और रचित अवस्थाएं चार हैं।

ये चार अवस्थाएं परमात्मा कीं नहीं हैं। परमात्मा एक रस, अपरिणामी और अव्यय है। इस कारण हमारा निश्चित मत है कि ये चार अवस्थाएं उस परम ब्रह्म की हैं, जिसका उल्लेख उपनिषद् के प्रथम मंत्र में है अथवा जिसका उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् १-६ और ७ में है।

ओं का अर्थ परमात्मा अवश्य है परन्तु इस उपनिषद् में ओं परमात्मा की व्याख्या नहीं है, वरन् परम ब्रह्म की व्याख्या है और उसकी चार अवस्थाओं का वर्णन है। ओं अक्षर समूह केवल तुलना के लिये आया है।

कुछ भाष्यकार पाद का अर्थ पग लेते हैं। ऐसा मानने पर भी एक पग और दूसरे पग में अन्तर तो है। इन्हीं को परिणाम कहते हैं। परमात्मा परिणामी नहीं। इस कारण यहां पाद का अर्थ पग नहीं, अवस्थाएं है।

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः॥ ३ ॥

अर्थ—महान् ब्रह्म का प्रथम पाद जागृत अवस्था है। यह सात अंग और उन्नीस मुखों वाली स्थूल तथा वैश्वानर अग्नि से खाया जा रहा है। इसके सात अंग और उन्नीस मुख हैं।

हमने पाद का अर्थ अवस्था (stages) किया है। यह भी कहा है कि उस महान् ब्रह्म की चार अवस्थाएं हैं। उनमें पहली अवस्था का वर्णन इस मंत्र में किया है। कहा है कि यह पहली अवस्था में वह बहिःप्रज्ञः (बाहर से जाना जाता) है। जो कुछ देखने में आता है। दूसरे शब्दों में इस अवस्था में यह महान्-ब्रह्म इन्द्रियों का विषय है। इसके सात अंग हैं और उन्नीस मुख हैं।

स्वामी शंकराचार्य इन अंगों की गणना इस प्रकार से करते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदोही बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ' ॥

(माण्डू० ३ शंकर भाष्य)

यह उद्धरण उन्होंने छान्दोग्य उ० (५-१८-२) में से दिया है। छान्दोग्य का पूर्ण मंत्र इस प्रकार है—

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥

(छान्दो ५-१८-२)

इसके अर्थ हैं—

इस वैश्वानर आत्मा का मस्तक ही सुतेजा (द्युलोक) है; चक्षु विश्वरूप प्राण है, वायु; देह का मध्य भाग है आकाश, वस्ति रयि (जल) हैं; पृथिवी ही दोनों चरण हैं; वक्षस्थल वेदी है, लोभ बर्हि है, हृदय गार्हपत्याग्नि है, मन अन्वाहार्य पचन है और मुख आहवनीय है।

स्वामी शंकराचार्य इस उपनिषद् के प्रमाण से माण्डूक्य उपनिषद् में प्रथम पाद के सात अंग बताते हैं; परन्तु उपनिषद में तो ग्यारह अंग बताये हैं। अतः स्वामी शंकराचार्य की गणना में भूल है। भूल इस कारण हुई है कि उनको इस चर जगत् के सात अंग समझ नहीं आये तो उपनिषदों को खोजने लगे। वहां नहीं मिले तो फिर उन्होंने अनुपयुक्त उदाहरण दे दिया। छान्दोग्य उपनिषद् में वैश्वानर के ग्यारह अंग कहे हैं। उन्होंने सात लिखकर चार छोड़ दिये। वस्तुतः ये सात अंग वे नहीं जो स्वामी जी समझे हैं।

सात अंग इस प्रकार हैं—

(१) परमात्मा; (२) जीवात्मा; (३) सत्त्व; (४) रजस्, (५) तमस् (तीन आपः; (६) तेज, (परमात्मा का तेज जिसने रचना-कार्य आरम्भ किया और जो रचना कार्य अभी भी जारी है); (७) जीवों के कर्म फल।

ये सातों अंगों को वैश्वानर अग्नि संयुक्त कर रही है। इनके संयोग का ही नाम जगत् अर्थात् बहिः प्रज्ञः अथवा जागृत स्थान है।

माण्डूक्योपनिषद् के इसी मंत्र में कहा है कि इस जागृत स्थान के उन्नीस मुख हैं। शरीर में मुख का कार्य है एक वस्तु को चबाकर उसका रस बनाना। अन्न को मुख में चबाकर रस बनाया जाता है।

इसी प्रकार इस जगत् में उन्नीस स्थानों पर परिवर्तन हो रहे हैं। ये स्थान इस प्रकार हैं—

(१) जहां तेज परमाणु पर आरूढ़ होकर इसकी साम्यावस्था भंग करता है। प्रकृति से महत् बनता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) महत् से तीन आप: बनते हैं। जब परमाणुओं की साम्यावस्था भंग होती है तो परमाणुओं में आकर्षण-अनाकर्षण (attraction—repulsion) उत्पन्न होता है। यह वायु से होता है। इससे तीन आप: बनते हैं।

(३) आप: को वैवर्त में लाने वाली शक्ति, जिससे परिमण्डल (atoms) बन जाते हैं।

(४) शरीर के सात प्राण, जिनसे शरीर के सब कार्य चलते हैं।

(५) पंच तन्मात्र। वे पांच शक्तियां जो कार्यजगत् में सब प्रकार की गतियां उत्पन्न करती हैं। पांच शक्तियां हैं—(अ) परमाणुओं से अणु बनाने की शक्ति जैसे ऑक्सिजन$_2$ (O_2) इत्यादि बनते हैं। (इ) मरुतों में चुम्बकीय शक्ति (magnetism), मरुतों में विकम्पन उत्पन्न करने की शक्ति (molecular dynamics)। (ए) भू-आकर्षण (gravity)। (ओ) रासायनिक शक्ति (chemical energy)।

(६) बुद्धि (विचार करने की शक्ति)।

इस प्रकार उन्नीस मुख हैं—तेज, ऋण तथा घन (—तथा०), तीन आप: (electron, proton, neutron), सात प्राण (पांच ज्ञानेन्द्रियों में, एक कर्मेन्द्रिय में तथा सातवां महापुरुष; पांच तन्मात्र तथा बुद्धि।

ये उन्नीस मुख हैं। ये शक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हैं जिनसे जगत् का एक रूप दूसरे रूप में बदलता है। इसी कारण इनको मुख कहा है।

इस दृश्य जगत् को देखकर ही ब्रह्मसूत्रों में परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीन अक्षरों की सिद्धि की गई है। ब्रह्म सूत्रों में कहा है—इस जगत् में दो प्रकार के पदार्थ देखे जाते हैं, गतिशील और अचल। कोई अचल पदार्थ अपने आप अपनी स्थिति को बदल नहीं सकता। अचल चलायमान हुए हैं। अचल को चलायमान करने वाला कोई है। चलायमान पदार्थों में भी दो प्रकार के पदार्थ हैं। एक जो निरंतर एक ही गति से चलते रहते हैं और दूसरे जो चलने वाले की इच्छा के अधीन हैं। एक कमरे में कुर्सी एक अचल वस्तु है। कुर्सी पर बैठा मनुष्य चल है। परन्तु मनुष्य चलता-फिरता है अपनी इच्छा से। इसके विपरीत चन्द्र, तारागण इत्यादि भी चलते हैं परन्तु वे अपनी इच्छा से नहीं चलते। कोई दूसरा उनको चलाता है। अत: चलायमन पदार्थों में दो प्रकार के पदार्थ हैं। शरीरी और अशरीरी। शरीरी में भी दो प्रकार की गतियां हैं। एक वह जो शरीरी के अधीन है। दूसरी जो उसके अधीन नहीं हैं। इस पर भी गतियां होती हैं। उदाहरण के रूप में हृदय की गति है। सांस लेने की गति इत्यादि है। ये गतियां मनुष्य के अधीन नहीं। इस कारण शरीर: में शरीरी है, शरीर को चलाने वाला जीवात्मा है

(विंस्तृत विवेचन के लिए देखें लेखक की रचना 'सृष्टि रचना' पृष्ठ ३६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और फिर शरीर में स्वतः होने वाली गतियों को चलाने वाला कोई है। और परमात्मा है।

इन तीनों का समूह है महान् ब्रह्म और उसकी चार अवस्थाओं में से एक का वर्णन इस मंत्र (माण्डू—०३) में किया गया है। उसे जागृत अवस्था कहा है। जागृत इस कारण कि इसको इन्द्रियों से देखा जा सकता है जो बाहर के पदार्थों को देखने के लिए बनी हैं।

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्त-भुक्तैजसो द्वितीयः पादः ।। ४ ।।

अर्थ—स्वप्न अवस्था (महान् ब्रह्म) की अन्तः प्रज्ञः होती है। (वह) भी सात अंग वाली और उन्नीस मुखों वाली है। इसमें तेज (जिसे पूर्व के मंत्र में वैश्वानर अग्नि कहा था) कार्य करता है सूक्ष्म अवस्था में। यह (महान्) ब्रह्म का दूसरा पाद (अवस्था) है।

यह रचित सृष्टि की उस अवस्था का वर्णन है जब तेज परमाणुओं पर अधिष्ठित हो उनकी साम्यावस्था को भंग कर चुका होता है, परन्तु अभी वर्तमान दृश्य-जगत् नहीं बना होता। यह महत् अवस्था से लेकर परिमडण्लीय अवस्था का वर्णन है। सांख्यमतानुसार इस अवस्था से पूर्व प्रकृति के परमाणुओं की साम्यावस्था को भंग हो चुकी थी और उनके भीतर का इन्द्र वहिः मुख हो चुका था।

इन्द्र के कारण आपः और परिमण्डल (atoms) बन रहे थे। नीचे इस अवस्था को चित्र बनाकर स्पष्ट किया जा रहा है।

निश्चल तमोभूत प्रकृति में परमाणुओं की अवस्था इस प्रकार होगी —

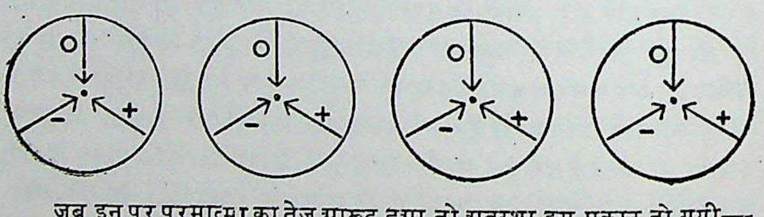

जब इन पर परमात्मा का तेज आरूढ़ हुआ तो अवस्था इस प्रकार हो गयी—

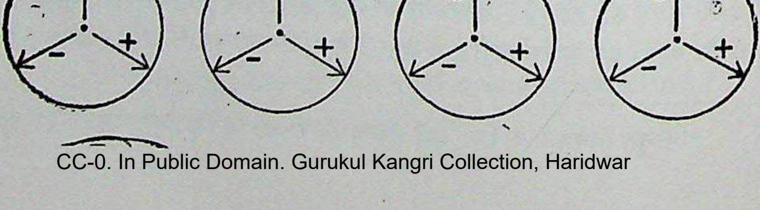

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(+) घन शक्ति; (०) शून्य; (=) ऋण शक्ति=इन्द्र। इनके आकर्षण की तीसरी अवस्था में निबन्धन (groups) बन गये।

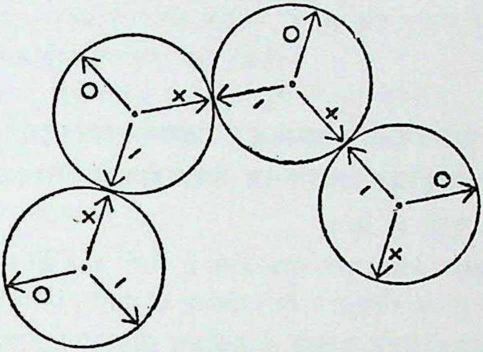

चौथी अवस्था है—

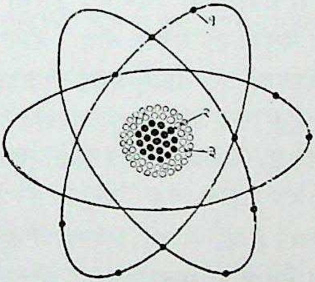

१=० तैजस् (electrons)
२=● भूतादि (neutrons)
३=० वैकारिक (protons)

इन चारों अवस्थाओं को सांख्य सूक्ष्म अवस्था कहता है। इस अवस्था में जगत् को अन्तः प्रज्ञः कहा है। अन्तः प्रज्ञ से अभिप्राय है कि यह चलायमान थी परन्तु भीतर ही भीतर प्रज्ञ थी। प्रत्यक्ष में चलायमान (जानी जाने योग्य) परन्तु प्रतीत नहीं होती थी। अभिप्राय यह है कि हो रहे कर्म का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं होता था। इसमें कारण भी बताया है। वह यह कि प्रकृति की सूक्ष्मावस्था में कार्य हो रहा था और कार्य वह तेज ही कर रहा था।

इसके भी सात अंग और उन्नीस मुख हैं। अभिप्राय यह है कि अभी भी वही शक्तियां कार्य कर रही थीं, जो जागृत अवस्था में कर रही थीं। यदि यह कहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाये तो अधिक ठीक होगा कि उनका कार्य आरम्भ हुआ था और अभी परिणाम इतने सूक्ष्म थे कि दिखाई नहीं देते थे। उपनिषद्कार ने इसे स्वप्न अवस्था कहा है।

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

अर्थ—(जब) पुरुष सोया होता है, किसी काम की कामना नहीं करता, न ही स्वप्न देखता है, ऐसी अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं।

जिसकी ऐसी अवस्था हो एकीभूत आनन्दमय होता है। इस प्रकार आन्दमय होता हुआ निश्चय से आनन्द का भोग करता हुआ, संकीर्ण प्रज्ञा (चेतना) रखता हुआ, भोग करता हुआ विशेष अज्ञान की अवस्था तीसरी अवस्था है।

यह परम ब्रह्म (जगत्) की तीसरी अवस्था का वर्णन है। इसकी तुलना एक सोये हुए पुरुष से की है। एक सोया मनुष्य जब गहरी नींद में होता है तब जो अवस्था उसकी होती है, वही इस अवस्था में इस महान् जगत् की होती है।

जगत् के अंग उस समय सोये होते हैं, जैसे सोये मनुष्य के अंग उसके साथ होते हैं। ये अंग एकीभूत सोये हुए होते हैं। अर्थात् एक समान निष्क्रिय हो रहे होते हैं।

परम ब्रह्म के सात अंग हमने बताये हैं जो जागृत अवस्था में होते हैं और फिर स्वप्नावस्था में भी वही होते हैं। जैसे जागृत मनुष्य के अंग और स्वप्नावस्था में अंग उसके साथ ही होते हैं, वैसे ही सोये परम ब्रह्म के भी अंग उसके साथ रहते हैं।

इसी प्रकार महान् ब्रह्म के, जब वह सुषुप्ति अवस्था में होता है तो उसके अंग उसके साथ ही रहते हैं। वे सात अंग हमने ऊपर बताये हैं। (१) तेज अर्थात् परमात्मा, (२) जीवात्मा, (३) सत्त्व, (४) रजस्, (५) तमस् (तीन आपः), और जीव के कर्म फल।

ये सात अंग महान् ब्रह्म के इस सुषुप्ति अवस्था में भी होते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से सृष्टि रचना में यह वह अवस्था है जब परमाणु की साम्यावस्था भंग हो चुकी होती है और महत् तथा अहंकार बन चुके होते हैं। पंच महाभूत स्थूल बन जाते हैं, परन्तु अभी नक्षत्रादि की चलायमान अवस्था नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती। वे बने तो होते हैं परन्तु गतिशील नहीं होते। वह मृत्यु की अवस्था नहीं होती। प्रलयावस्था में परमाणु साम्यावस्था में होने से सर्वथा अक्रिय हो जाते हैं।

उपनिषद्कार ने इस अवस्था की तुलना गहरी नींद में सोये मनुष्य से की है।

एक बात का ध्यान रखना चाहिये कि यह सब तुलना कृत्रिम ही है। इसी कारण यह सर्वांगीन समानता नहीं रखती।

कुछ भी हो यह रचित जगत् की एक अवस्था होती है। उपनिषद्कार तो इसका नाम सुषुप्ति अवस्था कहता है। यह मृत अवस्था से भिन्न है। उस अवस्था में परमात्मा, प्रकृति और जीवात्मा पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। वह अवस्था भी परम ब्रह्म की बतायी है।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ, हि भूतानाम् ॥ ६ ॥

अर्थ--यह (जो तीसरी अवस्था में प्रज्ञान धन कहा था जिसे अन्तः प्रज्ञ: चेतना कहा है) यह ईश्वर (निर्माता स्वामी) है, सर्वज्ञ है, अर्न्तर्यामी है और सब भूतों का उत्पत्ति स्थान है।

कुछ भाष्यकार एषः का अर्थ करते है वह सब कुछ जो सुषुप्ति अवस्था में था। यह अर्थ अशुद्ध है। वह जो सब कुछ था, वह तो सुषुप्ति अवस्था में था।

ईश्वर सोता नहीं है। इस कारण एषः का प्रयोग पूर्ण प्रपंच के लिये नहीं है। साथ ही इसको (सोये जगत् को) प्र-अज्ञ निपट अज्ञानी कहा है। यह भी ईश्वर नहीं हो सकता।

अतः एषः का अभिप्राय उस प्रज्ञान धन से है जो प्रपंच में छुपी चेतना है।

सोये हुए पुरुष में भी तो जीवात्मा चेतन होता है। उसी प्रकार प्रपंच में छिपा हुआ आत्मा भी चेतन था। वह परमात्मा ही था। मंत्र ६ में एषः वही चेतना के लिये आया है। उस प्रपंच की सुषुप्ति अवस्था में परमात्मा चेतन उसमें भी था। कहा है कि वह सर्वेश्वर है।

नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ — अगली अवस्था — न भीतर से चेतन होती है, न बाहर से चेतन होती है। दोनों स्थानों पर भी चेतन नहीं होती। न संकीर्ण ज्ञानवान है। यह अवस्था न दिखाई देने वाली है। व्यवहार रहित ग्रहण करने के अयोग्य, लक्षण-विहीन, विचारातीत, अकथनीय, एक आत्मा (एक सार रूप) शान्त प्रपंच वाली है। (प्रपंच का अर्थ कार्य-जगत् है) इस सब में वह एक कल्याणमय अकेला ही है। वह जानने योग्य है। यह चौथा पाद माना जाता है। इस अवस्था में (ऊपर कहा हुआ) आत्म तत्त्व (विशेष जानने योग्य) है।

यह चतुर्थ अवस्था वह है जो निम्न वेद मंत्रों में वर्णित है—

इन मंत्रों का देवता है—भाव वृत्तम् (अर्थात् रचना का वृत्तान्त)।

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥
(ऋ १०-१२९- १, २)

अर्थ—(क्या) न असत् था, न सत् था ? (क्या) यहाँ न रजः (cosmit dust) थी ? (क्या) व्योम से परे कुछ नहीं था ?

वह क्या था जो इसको चारों ओर से घेरे हुए था ? यह सब कहां था ? किसके आश्रय था ? तो फिर यह गहन और गम्भीर क्या था ?

वहां कुछ नष्ट नहीं हो रहा था, न ही नष्ट होने वाला कुछ था। उस समय न दिन था न रात थी। एक प्राण शक्ति जो अवातम् (अचल) थी और एक अपने ही बल से स्थित थी और कुछ नहीं था जो इससे भी सूक्ष्म था।

उपनिषद् में भी कहा है कि सब कुछ अचेतन था, भीतर से भी और बाहर से भी। केवल एक कल्याणकारी अकेला ही चेतन था। प्रपंच (जगत्) शान्त था। वह कल्याणकारी चेतन आत्म तत्त्व जानने योग्य है।

यह परम-ब्रह्म की चौथी अवस्था कही है।

उपनिषद् में सब न दिखाई देने योग्य व्यवहार में, न जाना जाने योग्य, लक्षण रहित, न ग्रहण करने योग्य, अकथनीय, विचारातीत इत्यादि लक्षणों से इस अवस्था का वर्णन किया है।

वेद में कहा है कि उस समय न व्यक्त कुछ था न अव्यक्त कुछ था। पता नहीं यह संसार किसके आश्रय था ? इसे कौन घेरे हुए था और जो था उसके परे क्या था ? विदित नहीं।

इन सब का वर्णन एक शब्द में कर दिया है—(अप्रेकतः) ज्ञानातीत था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ।। ८ ।।

अर्थ—वह (परम-ब्रह्म) (और) यह आत्मा (जिसे ऊपर के मंत्र में शिव कहा है) ये ओम् अक्षर के समान हैं, जो मात्राओंसहित है। पाद मात्र ही मात्रा है और मात्रा हीं पाद (परम-ब्रह्म के चार पाद जो उपनिषद् में वर्णन किये हैं) हैं। वे (ये चार अवस्थाएं) ही परम-ब्रह्म के पाद हैं। यह ओंकार है—(अकार, उकार और मकार)।

ओं (अ+उ+म्=ओम्=ओं) की तुलना की गयी है जागृत अवस्था से, स्वप्न अवस्था से, सुषुप्ति अवस्था से और चौथी 'तुरिया' अवस्था से।

हमारा कहना है कि भाषा के अक्षर (अ+उ+म्=ओं) से ही तुलना है, परमात्मा और परम-ब्रह्म से तुलना नहीं की गई।

इस प्रकार जगत् की रचना की अवस्था में तीनों मिले हैं और ओं—एक अक्षर—दिखाई देने योग्य मात्राओं सहित है। इसी प्रकार परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों के सहयोग से जगत् प्रपंच बना है। तीनों ऐसे घुलमिल गये हैं जैसे 'ओं' में अ, उ और म् मिले रहते हैं। अ, उ और म् पृथक्-पृथक् उच्चारण में नही आ सकते, परन्तु तीनों मिल कर ओं जब बनता है तो वह उच्चारण योग्य हो जाता है। इसी प्रकार जागृत अवस्था में वे तीनों (जो पृथक्-पृथक् अव्यक्त हैं) मिलने पर व्यक्त दृश्यमान्, इन्द्रियों से जाना जाने योग्य हो जाता है।

वास्तव में न 'अ' न ही 'उ' बोला जा सकता है। जब तक ये किसी व्यंजन से युक्त न हों, ये बोलने में नहीं आते। ओं शब्द में म् से जब 'अ' तथा उ' संयुक्त होते हैं तो बोलने में ओं शब्द बन जाता है।

परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों पृथक्-पृथक् अव्यक्त हैं। जागृत जगत् तब ही बनता है जब तीनों का संयोग होता है।

परमात्मा का संयोग प्रकृति से होता है तो प्रकृति के परमाणु जो पहले साम्यावस्था में होते हैं, असाम्यावस्था में हो जाते हैं। असाम्यावस्था का अभिप्राय है प्रत्येक परमाणु जो तीन शक्तियों से युक्त प्रकृति का कण है, की तीनों शक्तियों का सन्तुलन टूट जाता है। इन शक्तियों को सत्त्व, रजस और तमस कहते हैं। इनका रूप हम मंत्र ४ की पद टिप्पणी में बता आये हैं। वहां यह भी बताया है कि सत्त्व, रजस्, तमस् वर्तमान विज्ञान की भाषा के धन, ऋण और शून्य विद्युत आवेश हैं।

इन आवेशों के बहिःमुख होने से परस्पर आकर्षण-विकषर्ण होने लगता है और प्रकृति के पिण्ड (निबन्धन) बन जाते हैं। ये निबन्धन तीन प्रकार के बनते हैं। बहुधा छोटे-छोटे और जिन पर आवेश तैजस् (ऋण विद्युत) का होता है, ये तैजस्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहंकार (electrons) कहाते हैं। दूसरी प्रकार के पिण्ड (निबन्धन) बड़े-बड़े होते हैं और वैकारिक अहंकार (protons) कहाते हैं। इन पर धन विद्युत का आवेश होता है। तीसरी प्रकार के पिण्ड भी बड़े-बड़े होते हैं और वे शून्य आवेश रखते हैं तथा भूतादि अहंकार (neutrons) कहाते हैं। इन तीनों से ही जगत् के सब पदार्थ बनते हैं।

उपनिषद्कार का कहना है कि ये प्रकृति और परमात्मा की शक्ति के संयोग का ही फल हैं। जीवात्मा तो केवल प्राणी शरीर में आता है। जगत् प्राणी का शरीर भी परमात्मा और प्रकृति के संयोग का ही परिणाम है परन्तु प्राणी उस शरीर और जीवात्मा के संयोग का परिणाम है। बस यही परम-ब्रह्म की प्रथम अवस्था है जिसे जागृत अवस्था कहते हैं।

अंतिम अवस्था जिसे तुरिया (चतुर्थ) अवस्था कहते हैं, उसमें तीनों मूल पदार्थ पृथक्-पृथक् होते हैं। जीवात्मा तो बिना प्रकृति की सहायता के अपनी चेतनता भी प्रकट नहीं कर सकते। केवल परमात्मा ही है जो अकेला चेतन अवस्था में रहता है। प्रकृति तथा उसके बने सब पदार्थ प्रपंच के परमाणुभूत हो जाते हैं और अदृश्य अव्यवहारिक अप्रकेतम् इत्यादि अवस्था में हो जाते हैं।

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद।। ९ ।।

अर्थ—जागृत अवस्था वैश्वानर है। यह प्रथम मात्रा आदि में प्राप्त होने में व्याप्त हो जाती है। निश्चय से जो ऐसा जानता है वह अपनी सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है।

जागृत अवस्था अर्थात् दिखाई देने वाला जगत्-प्रपंच, कार्य करता हुआ गतिशील वैश्वानर ही है। वैश्वानर परमात्मा के तेज का वह रूप है, जिसमें वह परमाणु पर लगाम बनकर रहता है। ऋ० १-१६३-२ में कहा है कि परमात्मा का तेज परमाणु पर लगाम की भांति लग जाता है। इस लगाम के लगने से परमाणु की आभ्यन्तरिक शक्ति बहिःमुख हो जाती है। बहिः मुख होने से परमाणुओं में आकर्षण-विकर्षण हो जाता है, जिससे निबन्धन बनते हैं और चराचर जगत् बन जाता है। यह जगत् तब तक बना रहता है जब तक परमात्मा का तेज परमाणु पर लगाम की भांति आरूढ़ रहता है। अर्थात् जब तक वह वैश्वानर परमाणु पर लगाम की भांति आरूढ़ रहता है, तब तक जगत् के पदार्थ बने रहते हैं और कार्यरत रहते हैं। इस कारण यह तेज इस अवस्था में विश्व का नेता कहाता है। यही वैश्वानर है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब तक परमाणु की साम्यावस्था भंग रहेगी, तब तक कार्य-जगत् बना रहेगा। परमाणु की अवस्था भंग रहेगी जब तक परमात्मा का तेज (वैश्वानर अग्नि) उस पर लगाम बनकर रहेगी। वैश्वानर परमात्मा की शक्ति का वह रूप है जो परमाणु पर आरूढ़ होता है। इसी कारण यह जागृत जगत् वैश्वानर ही है। यह परमात्मा का तेज ओं शब्द में प्रथम मात्रा है। यह कार्य-जगत् में और परमात्मा का स्वरूप हैं। यही उपनिषद्कार का कहना है। उसने इस अवस्था की तुलना की है 'ओं' शब्द के 'अ' अक्षर से।

यह तुलना अशुद्ध प्रतीत होती है। इस अवस्था की तुलना 'ओं' शब्द से हो सकती है। बहिःप्रज्ञ की भांति यह ही इन्द्रिय अगोचर है। यह (ओं) तीनों मात्राओं से युक्त है।

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्तर्ति समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद॥ १० ॥

अर्थ—स्वप्न स्थान (अवस्था) में वह (परमात्मा का) तेज, ओं शब्द में जो मध्य में दूसरी मात्रा उकार है, दोनों के ऊपर चढ़ जाता है। (अ के भी और म् के भी)। जो निश्चय से ऐसा जानता है वह ज्ञान सन्तति (भण्डार) के समान हो जाता है। उसके कुल में कोई ब्रह्म से विचलित नहीं होता।

जैसे ओं में अ और म् के बीच में उ आता है, वैसे ही स्वप्न स्थान (अवस्था) में परमात्मा का तेज भीतर-ही-भीतर काम करता है। जैसे स्वप्नावस्था मे प्राणी में भी परमात्मा का तेज (महाप्राण) कार्य करता रहता है, वैसे ही जगत् की स्वप्न अवस्था में भी परमात्मा का तेज भीतर-ही-भीतर कार्य करता रहता है। वैसे इसका हमने मंत्र ४ की पद टिप्पणी में वर्णन किया है : बिना किसी भी प्रकार से दिखाई दिये परमात्मा का तेज परमाणुओं पर आरूढ़ हो कार्य करता रहता है। जैसे ओं के 'अ' के साथ 'उ' मिल कर उसका रूप बना रहता है।

इस मंत्र में मुख्य प्रश्न है कि स्वप्नावस्था 'ओं' शब्द में 'अ' की है अथवा 'उ' की है। 'अ' और 'उ' दोनों ही ह्रस्व स्वर हैं। हम समझते हैं कि उपनिषद्कार ने तुलना में यहां भी भूल की है कि 'उ' 'अ' के ऊपर हो जाता है। 'अ' 'उ' से अधिक सबल है। यह ठीक है कि 'उ' 'अ' के ऊपर हो जाता है, परन्तु यह तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुषुप्ति अवस्था में भी है। अतः हमारा विचार है कि 'अ' स्वप्नावस्था का प्रतीक है और 'उ' सुषुप्ति अवस्था का। 'ओं' जागृत अवस्था का। स्वप्नावस्था में प्राणी सुषुप्ति अवस्या से अधिक सशक्त होता है।

इस रहस्य को जानने वाला कि परमात्मा आधे सोये मनुष्य में कैसे कार्य करता है अथवा आधे बने जगत् में परमात्मा का कार्य कैसे होता है, ऐसा मनुष्य महान् ज्ञान का भण्डार माना जाता है और उसके परिवार में भी कोई नास्तिक नहीं हो सकता।

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

अर्थ—सोयी हुई अवस्था निपट अज्ञान की है '(ओं में)' यह म् तीसरी मात्रा है। यह पिये हुए की सी मानी जाती है। निश्चय से जो यह जानता है, पिया हुआ (ब्रह्मलीन) माना हुआ हो जाता है।

इन मंत्रों में ओं वर्ण में 'मकार' मात्रा की तुलना सुषुप्त स्थान से की गयी है। म् अक्षर हल है। इसका उच्चारण बिना किसी की सहायता के नहीं हो सकता। इसी प्रकार जगत् की सुषप्ति अवस्था है। बिना किसी चेतन की सहायता के वह अकार्य, अव्यवहार-युक्त रहती है।

इसका अभिप्राय यह है कि 'म्' (प्रकृति) जब आत्मा और परमात्मा के सहयोग के बिना होती है तो अकार्य हो जाती है।

यह सब ठीक है। परन्तु मंत्र ८ में कहा है कि वह जो चतुर्थ अवस्था में अकेला चेतन 'शिवम्' था वह 'ओं' तीनों मात्राओं सहित था।

वहां शब्द है—**सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रम्**

अर्थात्—वह यह (जो पूर्व मंत्र में अकेला चेतन कहा है) ओं अक्षर है।

इतना कहने पर अब यहां कह दिया है—**सुषुप्त स्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा**—खोयी हुई (प्रपंच की) अवस्था तीसरी मात्रा मकार है।

इसी कारण हमने कहा है कि तुलना पूर्ण नहीं है। कुछ सीमा तक ठीक है। आगे ठीक नहीं रही।

मंत्र ७ में कहा है प्रपंच शान्त हो गया। यह नहीं कहा कि रहा ही नहीं। वहां भी तुलना ठीक नहीं थी। 'अ' में 'उ' मात्रा उस चेतन में विलीन नहीं हुई थी, शान्त हुई थी।

इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था की तुलना 'म्' मात्रा से तो बैठती ही नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सुषुप्ति अवस्था में परमात्मा और जीवात्मा कार्य कर रहे होते हैं। परन्तु 'म्' में दोनों नहीं होते।

हम यह मानते हैं कि 'ओं' शब्द तो केवल परमात्मा का नाम है। परमात्मा के तेज से जगत् की जागृत अवस्था और स्वप्नावस्था तथा सुषुप्ति अवस्था बनती हैं। परन्तु जगत् तीन अक्षरों से बना है।

माण्डूक्योपनिषद्कार जगत् की चार अवस्थाओं का वर्णन करने के लिये 'ओं' शब्द की तुलना अशुद्ध ले बैठा है। इसी कारण तुलना कुछ दूर तक ही ठीक बैठी है, परन्तु आगे चलकर टूट गयी है।

'ओं' शब्द प्रपंच के लिये कहीं नहीं माना गया। यह केवल परमात्मा के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। इस कारण तुलना यहां तक ही माननी चाहिये कि 'ओं' शब्द तीन मात्राओं का बना है। यह जगत् भी तीन मात्राओं का है। ओं शब्द में 'अ' परमात्मा माना जाये तो 'उ' जीवात्माएं मानना होगा और 'म्' प्रकृति मानना होगा। 'अ' और 'उ' ह्रस्व (चेतन) स्वर हैं और परमात्मा जीवात्मा आत्म (चेतन) तत्त्व हैं।

तुलना जगत् की बनावट और ओं शब्द की बनावट से है। परमात्मा और जगत् से नहीं है। उपनिषद्कार अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल नहीं हुआ।

अमात्रश्चतुर्थो व्यवहार्यः प्रपंचोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद ॥ १२ ॥

अर्थ—और अमात्रः चौथा, व्यवहाररहित, शान्त हुआ प्रपंच है। कल्याणकारी अद्वितीय ओंकार आत्मा ही है। जो इस प्रकार जानता है वह अपने आत्मा में ही प्रवेश कर जाता है।

जगत् की चौथी अवस्था मात्रा-रहित ओंकार की है। यह शान्त हुआ प्रपंच है। केवल कल्याणकारी अद्वितीय आत्मा है जो ओं कहा जाता है। जो ऐसा जान लेता है वह जीवात्मा आत्मा में प्रवेश कर जाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि जो इस प्रकार जान जाता है उसका आत्मा परमात्मा में लीन हो जाता है। अर्थात् वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

यहां भी तुलना में अपूर्णता रह गयी है। इस शान्त अवस्था में प्रपंच को 'ओं' कहा है। परन्तु 'ओं' शब्द तो मात्रा सहित है और चौथी अवस्था इस मंत्र में मात्रा-रहित मानी है। 'ओं' का उच्चारण हो सकता है क्योंकि तीनों मात्राएं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संयुक्त हैं और जगत् की चौथी अवस्था में तो सब कुछ पृथक्-पृथक् हो गया होता है।

इस कारण हमारा यह कहना है कि इस उपनिषद् में 'ओं' अक्षर की तुलना प्रपंच के साथ की गयी है। परन्तु ओं जिसके अर्थ परमात्मा हैं, वह तो पूर्ण प्रपंच नहीं है। उपनिषद्कार स्वयं ऐसा मानता है।

उपनिषद् के इस मंत्र में कहा है, **अमात्रः चतुर्थ अव्यवहार्यः प्रपंच उपशमः** —अर्थात् चौथी अवस्था मात्रा-रहित है। ओं तो मात्रा-सहित है और ओं शब्द ही परमात्मा के लिये कहा जाता है। तब यह चतुर्थ अवस्था में ओं की तुलना नहीं किसी अन्य की तुलना है।

साथ ही इसी मंत्र में कहा है कि 'शिवः अद्वैत ओङ्कार···य एवं वेद' कल्याणकारी अद्वितीय ओंकार है जो ऐसा जानता है, वह मोक्ष पा जाता है।

एक ही मंत्र में विरोधाभास प्रतीत होता है। यह इस कारण कि 'ओं' शब्द की तुलना प्रपंच की अवस्थाओं के साथ ठीक नहीं बैठती।

वस्तुस्थिति यह है कि चतुर्थ अवस्था का वर्णन वेद में (ऋ० १०-१२९-१, २) भी किया है। वहां कहा है कि उस समय कुछ नहीं था, अन्धकार था और न दिन था, न रात थी, परन्तु दो पदार्थ थे। एक 'आनीत् अवातम्' और एक 'स्वधा'। 'आनीत अवातम्' का वर्णन उपनिषद्कार ने शिवः अद्वैत कह कर किया है। 'आनीत अवातम्' का अभिप्राय हमने इस मंत्र को व्याख्या में समझाया है—परमात्मा का तेज जो निश्चल था। और 'स्वधा' का अभिप्राय है साम्यावस्था में प्रकृति के परमाणु। इसे उपनिषद्कार ने 'प्रपंचः उपशमः' कह कर वर्णन किया है।

उपनिषद्कार ने वर्णन तो वेदानुसार ही किया है, केवल तुलना जो ओंकार शब्द से की थी, वह पूर्ण रूप से ठीक नहीं बनी।

चतुर्थ अवस्था अर्थात् प्रलय अवस्था के उपरान्त कैसे पुनः जागृत अवस्था आती है, इसका वर्णन उपनिषद् में नहीं है, परन्तु वेद में है।

ऋग्वेद (१-१६३-१) में वर्णन किया है कि परमात्मा का तेज जिसे 'आनीत अवातम्' कहा है एकाएक शोर मचाता है और प्रकट हो जाता है। पहले यह निश्चल था और रचना के समय यह चलायमान हो जाता है। इसी वेद मंत्र में कहा है—बहुत वेग से यह ऊपर को उठता है और अन्तरिक्ष में फैल जाता है।

इस फैलने के पूर्व, उपनिषद्कार कहता है कि यह शिवः अद्वैत था। अभिप्राय यह है कि उस समय भी यह अद्वितीय था और कल्याणकारी था। इसके कल्याणकारी होने का वर्णन ऋ० १-१-१ में किया है। इस तेज को इस मंत्र में अग्नि कहा है। यह अग्नि पुरोहितं अर्थात् पूर्व में भी हित करने वाली थी। दैवम् यज्ञस्य ऋत्विजम्—परमात्मा के यज्ञ (सृष्टि-रचना कार्य) को ऋत्विक् की भांति चलाने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाली थी। रत्नधातमम्—अर्थात् संसार के उपकारी पदार्थों को देने वाली थी। यह प्रकृति के परमाणुओं की अग्नि में आहुतियां दे रहा था।

इसका ढंग भी वेद में लिखा है। परमाणुओं पर परमात्मा का तेज लगाम की भांति आरूढ़ हो जाने की बात कही है। आरूढ़ हो जाने पर परमाणुओं की साम्यावस्था भंग हो जाती है और परमाणुओं में उपस्थित इन्द्र बाहर प्रकट होने लगता है।

जब तक परमात्मा का तेज परमाणुओं पर लगाम की भांति आरूढ़ रहता है यह तेज वैश्वानर अग्नि कहाता है और तब तक परमाणु असाम्यावस्था में रहते हैं तथा रचना-कार्य और पालन-कार्य चलता रहता है।

प्रलय काल में परमात्मा का यह तेज परमाणुओं पर से दूर हट जाता है। और परमाणु पुनः साम्यावस्था में आ जाते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि प्रलय काल में अग्नि का वैश्वानर रूप नहीं रह जाता। यह पुनः 'आनीत अवातम्' के रूप में आ जाता है।

यह सब वेद (ऋ० १-१६३-२, ३, ४,) में वर्णित है। जब तक अग्नि का वैश्वानर रूप रहता है अर्थात् यह परमाणुओं पर लगाम बना रहता है, परमाणु असाम्यवस्था में रहते हैं और जगत् जागृत अवस्था में रहता है। यही उपनिषद्-कार ने मंत्र क्रमांक तीन में कहा है। 'भुग्वैश्वानरः।' अर्थात् जागृत अवस्था वैश्वानर से भोग की हुई, खायी जाती हुई।

वेद तो इससे भी आगे का वर्णन करता है। ऋ० १-१६३-६, ७ में कहा है कि जब जल, वायु और वनस्पतियां पृथिवी पर बन जाती हैं तो जीवात्माएं सूक्ष्म शरीरों में लिपटी हुई पृथिवी पर आती दिखाई देती हैं। यह तब होता है जब पृथिवी पर जीवनोपयोगी पदार्थ बन जाते हैं।

वेद तथा उपनिषद् में अन्तर यह है कि उपनिषद्काल ने जगत् की तुलना 'ओं' शब्द से करने का प्रयास किया है। वह तुलना ठीक नहीं बैठी। साथ ही 'ओं' की तुलना जगत् की अवस्थाओं में तो ठीक बैठी ही नहीं और 'ओं' जो परमात्मा का नाम है, वह जगत् का सूचक बन गया है।

हमारा मत है कि महान्-ब्रह्म में बहिः प्रज्ञ (दृष्ट जगत्) की अवस्था की तुलना 'ओं' शब्द से की गई है। ओं में 'अ' है परमात्मा, 'उ' है जीवात्मा और 'म्' है प्रकृति। जब 'अ', 'उ' और 'म्' पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, तब इसकी तुलना चतुर्थ अर्थात् प्रलय अवस्था से हो जाती है।

इसी को उपनिषद्कार ने उलट दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माण्डूक्य.. निषद् का सारांश

'ओं' एक अक्षर है। यह परमात्मा के लिये प्रयुक्त होता है। उस परमात्मा की ही व्याख्या (वर्णन) यह सब जगत् है। जगत् का भूत, वर्तमान और भविष्य परमात्मा की ही व्याख्या (वर्णन) करता है। इन तीनों काल से बाहर भी यदि कुछ है तो उसके कार्य की भी व्याख्या परमात्मा में है।

यह जगत् ब्रह्म कहा जाता है। ब्रह्म परमात्मा की कर्तृत्व शक्ति है। उस शक्ति से ही यह जगत् रचा गया है। इस जगत् की चार अवस्थाएं हैं।

पहली अवस्था है, जब जगत् जागृत अवस्था में होता है। इसके सात अंग हैं और उन्नीस मुख हैं। रचित जगत् के सात अंग हैं—(१) परमात्मा, (२) जीवात्मा, (३) वरुणआप: (protons), (४) मित्रआप: (electrons): (५) अर्यमा आप: (neutrons); (६) तेज (परमात्मा की अग्नि) अर्थात् रचना शक्ति एवं (७) जीवों के कर्मफल।

इस अवस्था के उन्नीस मुख हैं। मुख का अभिप्राय है वे शक्तियां जो रचना जगत् में परिवर्तन उत्पन्न करती हैं। ये हैं—

(१) तेज—परमात्मा की वह शक्ति जो आदि में प्रकृति में रचना आरम्भ करती है। यह एक ही है।
(२) महत् यह धन (+) और ऋण (—) शक्तियों का समूह है।
(३) इन्द्र त्रिगुणात्मक शक्ति का समूह है। तीन आप: हैं।
(४) सात प्राण हैं जो प्राणी के शरीर में कार्य करते हैं।
(५) पांच तन्मात्र हैं। ये पूर्ण जगत् में कार्य करते हैं।
(६) बुद्धि मनुष्य के मस्तिष्क में कार्य करती है।

इस प्रकार १९ मुख हैं।

रचित जगत् की दूसरी अवस्था स्वप्नावस्था है। मनुष्य की स्वप्नावस्था की भांति यह भीतर से चेतन, परन्तु बाहर से अचेतन होती है। इसके भी वही सात अंग तथा उन्नीस मुख हैं, जो जागृत अवस्था में जगत् के हैं।

जगत् की तीसरी अवस्था सुषुप्ति अवस्था कही गई है। जैसे सोये मनुष्य की अवस्था होती है, वैसी ही जगत् की भी होती है। सब कुछ बना हुआ होता है और भीतर से चेतन परन्तु बाहर से प्र-अज्ञ (सर्वथा अज्ञानयुक्त) होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस अवस्था में परमात्मा ही जागता है। यह जगत् की अवस्था भी सोये मनुष्य की भांति ही है।

चौथी अवस्था में जगत् नहीं रहता। इसकी तुलना मनुष्य की मृत्यु से हो सकती है। जगत् के तीन संगठन-कर्त्ता पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। न भीतर से चेतन, न बाहर से चेतन। उस समय व्योम अन्धकारमय परमाणु-भूत हो जाता है।

केवल एक अनादि सर्वव्यापक चेतन, जो कल्याणमय है, वह ही चेतन अवस्था में होता है और शेष सब सो जाते हैं। यह प्रलयावस्था कही जाती है।

उपनिषद्कार ने इन चारों अवस्थाओं की तुलना 'ओं' अक्षर से की है। 'ओं' जागृत अवस्था है। ओं का उच्चारण हो सकता है।

यह मानना पड़ेगा कि ओं=अ—उ+म्—यह तुलना ठीक नहीं बनी। कारण स्पष्ट है। ओं परमात्मा का साम है। और जागृत-अवस्था में तो जीवात्मा के भोग के कारण अच्छे-बुरे लोग इस अवस्था में उपस्थित होते हैं। कदाचित् वे प्रधान होते हैं जो परमात्मा के विमुख होते हैं।

इसकी तुलना एक दूसरे ढंग से भी की जाती है—'अ' जागृत, 'उ' स्वप्न और 'म्' सुषुप्ति अवस्था=ओं तथा चतुर्थ अवस्था तुरिया। परन्तु वह तो उद्देश्यरहित अर्थात् शान्त अवस्था कही जाती है और 'ओं' अवस्था में तो 'ओं' का उच्चारण सार्थक होता है। अर्थात् तुलना ठीक नहीं बैठी।

हमारा विचार है कि 'ओं' शब्द की तुलना है जगत् की 'बहिःप्रज्ञ' अवस्था से। 'अ' की तुलना है परमात्मा से, 'उ' की तुलना है जीवात्मा से और 'म्' की तुलना है प्रलयकाल से। स्वप्न अवस्था में 'अ' (परमात्मा) सजग है। 'उ' अर्द्ध-चेतनावस्था है। सुषुप्ति अवस्था में 'उ' अर्थात् जीवात्मा और प्रपंच सो जाता है। और तुरिया अवस्था में तीनों तत्त्व पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। चेतन केवल परमात्मा ही रहता है।

* * *

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुक्रमणिका

अग्निमीळे पुरोहितम्	ऋ० १-१-१	४५
अग्निमूर्धा चक्षुषी	मुं० २-१-४	४५
अजामेकां लोहितशुक्ल	श्वे० ४-५	४२
अजो ह्यको जुषमाणो	श्वे० उप० ४-५	४२
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो	श्वे० उप० १-७	८८
अतः समुद्र गिरयश्च	मुं० २-१-९	५०
अथर्वणे यां प्रवदेत	मुं० १-१-२	१९
अन्धन्तमः प्रविशन्ति	यजु० ४०-१२	३७
अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः	माण्डूक्य १२	१०१
अराइव रथनाभौ	मुं० २-२-६	५६
अविद्यायामन्तरे	मुं० १-२-८	३६
अविद्यायां बहुधा	मुं० १-२-९	३६
अस्य वामस्य पलितस्य	ऋ० १-१६४-१	२३
अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥	ब्र० सू० १-३-१०	५४, ८७
आप एवेदमग्र आसुस्ता	बृ० उप० ५-५-१	२६
आविः संनिहितम्	मुं० २-२-१	५२
आसीदिदं तमोभूतम्	मनु० १-५	२४
इदं शरीरं कौन्तेय	भ० गी० १३-१	५१
इष्टापूर्तं मन्यमानाः	मुं० १-२-१०	३८
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः	भ० गी० १५-१७	८६
उद्गीतमेतपरमम्	श्वे० उप० १-७	८८
उपद्रष्टानुमन्ता च	भ० गी० १३-२२	५१
एतस्माज्जायते प्राणः	मुं० २-१-३	४३
एतेषु यश्चरते	मूं० १-२-५	३३
एषः एर्वेश्वरः	माण्डूक्य—६	९५
एषोऽणुरात्मा चेतसा	मुं० १-२-५	५१
ह्यैहीति तमाहुतयः	मुं० १-२-६	३३
ओमित्येतदक्षरमिदम्	माण्डूक्य—१	८६
ओं ब्रह्मा देवानां प्रथमः	मुं० १-१-१	१७
कामान्यः कामयते	मुं० ३-२-२	७०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काली कराली	मुं० १-२-४	३२
कुर्वन्नेवेह कर्माणि	यजु० ४०-२	३६
कोऽयमध्यासो नामेत्ति	ब्र० सू० उपोद्घात शंकर भाष्य	७९
क्रियावन्तः श्रोत्रियाः	मुं० ३-२-१०	७७
गताः कलाः पंचदशः	मुं० ३-२-७	७४
चाक्लृपे तेन ऋषयो	ऋ० १०-१३०-६	२०
छन्दः किमासीत्	ऋ० १०-१३०-३	२०
जगद् व्यापारावर्जम्	ब्र० सू० ४-४-१७	७६
जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः	माण्डूक्य—३	८९
जागरितस्थानो वैश्वानर	माण्डूक्य ९	९८
तक्त स्वयंभूभगवान	मनु० १-६	१८
तदेतत्सत्यमृषिः	मुं० ३-२-११	७८
तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु	मुं० १-२-१	२८
तदेतत्सत्यं यथा	मुं० २-१-१	४१
तन्वभावे सान्ध्यवदुपपत्ते	ब्र० सू० ४-४-१३	७४
तपसा चीयते ब्रह्म	मुं० ट-१-८	२५
तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्ति	मुं० १-२-११	३९
तम् आसीत् तमसा	ऋ० १०-१२९-३	१८
तयो परिष्वक्तयोरन्यः	मु० उप० ३-१-१ शंकर भाष्य	६१
तस्माच्च देवा बहुधा	मुं० २-१-७	४८
तस्मादग्निः	मुं० २-१-५	४६
तस्मादृचः साम यजूंषि	मुं० २-१-६	४७
तस्मै स विद्वानुपसन्नाथ	मुं० १-२-१३	४१
तस्मै स होवाच	मुं० १-१-४	२१
तस्य ह हो एतस्यमानो	छा० उप० ५-१८-२, माण्डूक्य शं० भा०	९०
तस्य ह वा एतस्यैवं	छान्दोग्य० ७-२६-१	७५
तत्र कापरेत्युच्यते	शंकर भाष्य मुं० उप० १-१-५	२१
तत्र तास्त्रिविधा	ऋचः यास्य जिरुक्त ७-१	२२
तत्रापरा ऋग्वेदः	मुं० १-१-५	२१
दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः	मुं० २-१-२	४३
द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्	ब्र० सू० १-३-१	५५
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया	ऋ० १-१६४-२०	२३
द्वा सुपर्णा सयुजा	मुं० ३-१-१	६०
द्वा विमौ पुरुषौ लोके	भ० गी० १५-१६	८६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धनुर्गृहीत्वौपनिषदम्	मुं० २-२-३	५४
न चक्षुषा गृह्यते	मुं० ३-१-८	६७
न तत्र सूर्यो भांति	मुं० २-२-१०	५६
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि	ऋ० १०-१२६-२	१७
नान्तः प्रज्ञम्	माण्डूक्य ७	६५
नायमात्मा प्रवचनेन	मुं० ३-२-३	७१
नायमात्मा बलहीनेन	मुं० ३-२-४	७२
नासदासीन्नो सदासीत्	ऋ० १०-१२६-१	१७
परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्	मुं० १-२-१२	४०
पुरुषः एवेदं विश्वम्	मुं० २-१-१०	५०
प्रकृतिं पुरुषं चैव	भ० गी० १३-१६	५१
प्रणवो धनुः शरः	मुं० २-२-४	५५
प्रत्यक्षोपदेशादिति	ब्र० सू० ४-४-१८	७६
प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैः	मुं० ३-१-४	६३
प्लवा ह्येते अदृढा	मुं० १-२-७	३५
बृहच्च तद्दिव्यम्	मुं० ३-१-७	६६
ब्रह्मैवेदमर्तम्	मुं० २-२-११	५६
भावं जैमिनिर्विकल्पामनु	ब्र० सू० ४-४११	७४
भिद्यतेहृदयग्रन्थिः	मुं० २-२-८	५८
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारम्	श्वे० उप० १-१२	८८
यचदद्रेश्यमग्राह्यम्	मुं० १-१-६	२२
यथा नद्यः स्यन्दमानाः	मुं० ३-२-८	७५
यथा नद्यः स्यन्दमानाः	मुं० ३-२-८	७५
यथोर्णनाभिः सृजते	मुं० १-१-७	२४
यदक्रन्दः प्रथमं जायमान	ऋ० १-१६३-१	१८
यदर्चिमद्यदगुणभ्यः	मुं० २-२-२	५३
यदा पश्यतः पश्यते	मुं० ३-१-३	६३
यदा लेलायते ह्यर्चि	मुं० १-२-२	३०
यं यं लोकं मनसा	मुं० ३-१-१०	६६
यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य	मुं० १-१-६	२७
यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य	मुं० २-२-७	५७
यमेन दत्तं त्रित	ऋ० १-१६३-२	१६
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मा	यजु० ४०-६	६४
यस्मात्क्षरमतीतो	भ० गी० १५-१८	८६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यस्मिन्द्यौः पृथिवी	मुं० २-२-५	५५
यस्मिन्वृक्षे मध्वदः	ऋ० १-१६४-२२	६२
यत्र सुप्तः	माण्डूक्य ५	६४
यत्रा सुपर्णा अमृतस्य	ऋ० १-१६४-२१	६२
यस्याग्निहोत्रमदर्शनम्	मुं० १-२-३	३१
यास्ते प्रजा अमृतस्य	ऋ० १-४३-६	४६
वसो पवित्रमसि शतधारम्	यजु० १-३	३६
विकारावर्ति च तथा हि	ब्र० सू० ४-४-१६	७७
विद्यां चाविद्यां च	यजु० ४०-१४	२१
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः	मुं० ३-२६	७२
व्रतमुपैष्यम् अन्तरेण	शत०ब्रा० १-१-१-१	२६
शौनको ह वै महाशालः	मुं० १-१-३	२०
सत्यमेव जयति	मुं० ३-१-६	६५
सत्येन लभ्यस्तपसा	मूं० ३-१-५	६५
सत्व रजस्तमसां साम्यावस्था	सां० द० १-६१	२७
स पर्य्यगाच्छुक्रम	यजु० २२-६०	६०
सप्त प्राणः प्रभवन्ति	मुं० २-१-८	४६
समाने वृक्षे पुरुषः	मुं० ३-१-२	६३
स यो ह वै तत्परमम्	मुं० ३-२-६	७७
सर्वं ह्येतद्	माण्डूक्य २	८८
सर्वाजीवो सर्वसंस्था	श्वेउप १-६	८८
स वेदैतत्परम्म	मुं० ३-२-१	६६
संप्राप्यैनमृषयः	मुं० ३-२-५	७२
सा च प्रशासनात् ।।	ब्र० सू० १-३-११	५४, ८७
सुषुप्तस्थानः	माण्डूक्य ११	१००
सोऽग्निमेवाभीक्षमाणो	श० ब्रा० १-१-१-२	२६
सोऽयनात्मा	माण्डूक्य ८	६७
स्वप्नस्थानस्तैजसः	माण्डूक्य १०	६६
स्वप्नस्थानोऽन्तः	माण्डूक्य ४	६०
हिरण्मये परे कौशे	मुं० २-२-६	५८
क्षत्रेज्ञं चापि माम्	भ० गी० १३-२	५१
त्रीणि त आहुर्दिवि	क० १-१६३-४	२६
ज्ञा ज्ञौ द्वावजावीशा	श्वे० उप० १-६	२४

□□

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री गुरुदत्त की इतिहास पर रचनाएं

भारतवर्ष का संक्षिप्त इतिहास
इतिहास में भारतीय परम्पराएं

श्री पी एन ओक की खोजपूर्ण रचनाएं

भारत का द्वितीय संग्राम "आज़ाद हिन्द फौज की कहानी"
भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें
क्या भारत का इतिहास भारत के शत्रुओं द्वारा लिखा गया है ?
विश्व इतिहास के विलुप्त अध्याय
ताजमहल मन्दिर भवन है
ताजमहल तेजोमहालय शिव मन्दिर है
भारत में मुस्लिम सुल्तान भाग (2 भाग)
आगरा का लाल किला हिन्दू भवन है
फतहपुर सीकरी हिन्दु नगर है
लखनऊ के इमामवाड़े हिन्दू भवन हैं
दिल्ली का लाल किला लाल कोट है
वैदिक विश्व राष्ट्र का इतिहास (4 भाग)
कौन कहता है अकवर महान था ?
हास्यास्पद अंग्रेज़ी भाषा
क्रिश्चियनिटी कृष्ण नीति है
आरोग्य सौन्दर्य तथा दीर्घायु (व्यायाम व सूर्य नमस्कार)
ज्योतिष स्वयं शिक्षक - फल ज्योतिष
Lucknow's Imambaras are Hindu Building
Christianity is Chrisn-Nity
The Taj Mahal Is A Temple Palace
World Vedic Heritage 2 vols.
Some Missing Chapters Of World History
Some Blunders of Indian Historical Research
Who Says Akbar Was Great ?
Agra Red Fort is a Hindu Building

www.hindisahityasadan.com
2 बी डी चैम्बर्स, 10/54 डी बी गुप्ता रोड, करोल बाग पुलीस स्टेशन के पास, नई दिल्ली-05
E-mail : hindisahityasadan@gmail.com Tel : 23553624, 23551344, 09213527666

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास एवं ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित प्रकाशन

तेजपाल सिंह धामा की रचनाएं

गुरु गोबिन्द सिंह
महारानी दुर्गावती
रानी अवन्तीबाई एवं 1857 की क्रान्ति
शेरे पंजाब महाराजा रणजीत सिंह
हमारी विरासत — अर्थात दिव्य भारत का गौरवशाली इतिहास
मनुर्भव — अर्थात् विजयी विश्व हिन्दुत्व हमारा
अजेय अग्नि — अर्थात महारानी कर्मदेवी की शौर्यगाथा
अग्नि की लपटें — अर्थात महारानी पदमिनी की वलीदान गाथा
पृथ्वीराज चौहान एक पराजित विजेता
अखण्ड आर्यवर्त — अर्थात चन्द्रगुप्त चाणक्य कथा
पंक से पंकज — अर्थात महर्षि वाल्मिकी कथामृत
नल नील अभियान "श्री राम सेतु निर्माण"
गौ का गोरव — गॉय का विश्वकोष

वीर सावरकर साहित्य

हिन्दुत्व के पंच प्राण
हिन्दुत्व
क्रान्ति के नक्षत्र
मोपला — मोपला विद्रोह कथा
गोमांतक — पुर्तगालीयों द्वारा गोमांतक (गोवा) भूमि पर जघन्य अत्याचार की कथा
प्रतिशोध — मरहटों द्वारा पानीपत पराजय के प्रतिशोध पर आधारित
अमर सेनानी सावरकर — शिवकुमार गोयल
महामना सावरकर — हरि वावू देसाई

बलराज मधोक की रचनाएं

पाकिस्तान का आदि और अंत
कश्मीर जीत में हार
कश्मीर जीत या हार
जिन्दगी का सफर लद्दाख से दिल्ली
जिन्दगी का सफर स्वतन्त्र भारत की राजनीति का संक्रमण काल
जिन्दगी का सफर दीनदयाल उपाध्याय की हत्या से इन्दिरा की हत्या तक
पंजाब समस्या और समाधान
भारत और संसार

www.hindisahityasadan.com
2 बी डी चैम्बर्स, 10/54 डी बी गुप्ता रोड, करोल बाग पुलीस स्टेशन के पास, नई दिल्ली-05
E-mail : hindisahityasadan@gmail.com Tel : 23553624, 23551344, 09213527666

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री गुरुदत्त की इतिहास पर रचनाएं

भारतवर्ष का संक्षिप्त इतिहास
इतिहास में भारतीय परम्पराएं

श्री पी एन ओक की खोजपूर्ण रचनाएं

भारत का द्वितीय संग्राम "आज़ाद हिन्द फौज की कहानी"
भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें
क्या भारत का इतिहास भारत के शत्रुओं द्वारा लिखा गया है ?
विश्व इतिहास के विलुप्त अध्याय
ताजमहल मन्दिर भवन है
ताजमहल तेजोमहालय शिव मन्दिर है
भारत में मुस्लिम सुल्तान भाग (2 भाग)
आगरा का लाल किला हिन्दू भवन है
फतहपुर सीकरी हिन्दु नगर है
लखनऊ के इमामबाड़े हिन्दू भवन हैं
दिल्ली का लाल किला लाल कोट है
वैदिक विश्व राष्ट्र का इतिहास (4 भाग)
कौन कहता है अकबर महान था
हास्यास्पद अंग्रेज़ी भाषा
क्रिश्चियनिटी कृष्ण नीति है
आरोग्य सौन्दर्य तथा दीर्घायु (
ज्योतिष स्वयं शिक्षक - फल ज्योतिष

Lucknow's Imambaras are Hindu Building
Christianity is Chrisn-Nity
The Taj Mahal Is A Temple Palace
World Vedic Heritage 2 vols.
Some Missing Chapters Of World History
Some Blunders of Indian Historical Research
Who Says Akbar Was Great ?
Agra Red Fort is a Hindu Building

Central Library
167870
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar
081
167870

www.hindisahityasadan.com
2 बी डी चैम्बर्स, 10/54 डी बी गुप्ता रोड, करोल बाग पुलीस स्टेशन के पास, नई दिल्ली-05
E-mail : hindisahityasadan@gmail.com Tel : 23553624, 23551344, 09213527666

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL KANGRI LIBRARY

	Signature	Date
Access No.		
Class No.		
Cat No.		
Tag etc.		
E.A.R.		
Recomm. by		
Data Ent. by		
Checked		

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

पुस्तकालय
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
वर्ग संख्या....... R 089.9143 आगत संख्या 167870
GUR-M
पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क लगेगा।

www.hindisahityasadan.com
2 बी डी चैम्बर्स, 10/54 डी बी गुप्ता रोड, करोल बाग पुलिस स्टेशन के पास, नई दिल्ली-05
E-mail : hindisahityasadan@gmail.com Tel : 23553624, 23551344, 09213527666

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL KANGRI LIBRARY

	Signature	Date
Access No.		
Class No.		
Cat No.		
Tag etc.		
E.A.R.		
Recomm. by.		
Data Ent. by		
Checked		

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुदत्त

शिक्षा: एम. एस. सी.

8-12-1894 से 8-4-1989

लेखक की वेद, उपनिषद, दर्शन एवं वैदिक विज्ञान पर प्रमुख रचनाएं

हिन्दी साहित्य सदन
www.hindisahityasadan.com
2 बी.डी. चैम्बर्स, 10/54 देश बंधु गुप्ता रोड,
करोल बाग, नई दिल्ली-110 005. फोन : 23553624, 23551344
ई-मेल : indiabooks@rediffmail.com, hindisahityasadan@gmail.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar